

सम्पादक की अन्य रचनाएं

◆ कविता

मञ्जिका (१९४३)

बन्दी के गान (१९४२)

कारा (१९४६)

◆ उपन्यास

दृष्टाब्ज (१९४८)

◆ इतिहास तथा जीवनी

हमारा संघर्ष (१९४६)

नेताजी सुभाष (१९४६)

\ काँग्रेस का संक्षिप्त इतिहास (१९४७)

◆ संकलन

लाज किले की घोर (१९४६)

गान्धी-भजन-भाखा (१९४८)

गल्प-भाखुरी (१९४८)

◆ निबन्ध

प्रभाकर निबन्धावली (१९४८)

◆ प्रेस में

राष्ट्र-लिपि—देवनागरी

अनीता (उपन्यास)

हिन्दी-साहित्य : नये प्रयोग (आलोचना)

आराधना (कविता)

—कवि (कविता)

राजकमल प्रकाशन दिल्ली



जिनके पावन घरों में बठकर
मैंने राष्ट्र-भाषा का सक्रिय
अध्ययन किया, इन्हीं
पुण्य स्थानों

आचार्य श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ को सादर

यह संग्रह क्यों ?

स्वतन्त्रता के स्वर्ण-विहान में देश की अन्य आवश्यक समस्याओं की भाँति 'राष्ट्र-भाषा' और 'राष्ट्र-लिपि' की समस्या भी हमारे सामने प्रमुख रूप से उपस्थित है। इस सम्बन्ध में अभी तक अनेक नेताओं, साहित्यिकों एवं भाषा-शास्त्रियों ने सहस्रों सदप्रयत्न किये और देश की शिक्षित जनता के समक्ष अपने-अपने विचार-सुझाव उपस्थित किये। उनमें से 'राष्ट्र-भाषा' के सम्बन्ध में व्यक्त किये गए भावों का संकलन हममें किया गया है। 'राष्ट्र-लिपि' के सम्बन्ध में प्रकट हुए विचारों का मन्थन हम अपनी शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली दूसरी पुस्तक 'राष्ट्र-लिपि-देवनागरी' में करेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक को हमने राजनीतिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आदि सभी दृष्टि-बिन्दुओं से सर्वाङ्गीण बनाने का प्रयत्न किया है। आशा है पाठकों को हमारा यह प्रयास अवश्य रुचेगा। क्योंकि इसका संकलन एवं मुद्रण बहुत ही सीमित समय में हुआ है, अतः इसमें त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। सम्भवतः शीघ्रता में हम इसमें कुछ और महत्त्वपूर्ण विचार न दे सके हों, उनके लिए उपयुक्त सुझावों का समुचित स्वागत करेंगे।

अन्त में इस पुस्तक को जिन नेताओं के विचारों, साहित्यिकों के सुझावों और भाषा-शास्त्रियों के भावों से पोषण मिला है, उन सभी के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

साईं टंडन जी,

मेरे पास उदूँ खत आते हैं, हिन्दी आते हैं और गुजराती । तब पूछते हैं, मैं कैसे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में रह सकता हूँ और हिन्दु-स्थानी सभा में भी ? वे कहते हैं, सम्मेलन की दृष्टि से हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है, जिसमें नागरी लिपि ही को राष्ट्रीय स्थान दिया जाता है, जब मेरी दृष्टि में नागरी और उदूँ-लिपि को स्थान दिया जाता है, और जो भाषा न कारसीमयी है न संस्कृतिययी है । जब मैं सम्मेलन की भाषा और नागरी लिपि को पूरा राष्ट्रीय स्थान नहीं देता हूँ, तब मुझे सम्मेलन में से हट जाना चाहिए । ऐसी दलील मुझे योग्य लगती है । इस हाजत में क्या सम्मेलन से हटना मेरा कर्ज नहीं होता है ? ऐसा करने से लोगों को भ्रुविषा न रहेगी और मुझे पता चलेगा कि मैं कहां हूँ ।

कृपया शीघ्र उत्तर दें । मीन के कारण मैंने ही लिखा है लेकिन मेरे अक्षर पढ़ने में सब को मुसीबत होती है, इसलिए इसे लिखवा कर भेजता हूँ ।

आपका

—मो० क० गांधी

०

१० कास्पवेट रोड, इलाहाबाद

८-६-४६

पूज्य बापूजी, प्रथम ।

आपका २८ मई का पत्र मुझे मिला । हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और हिन्दुस्थानी-अक्षर-सभा के कामों में कोई मौलिक विरोध मेरे विचार में नहीं है । आपको स्वयं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सदस्य

रहित हुए, जयमंगल रश्मि वषट्कार हो गये । इस बीच आपने हिन्दी-प्रचार का काम राष्ट्रीयता की दृष्टि से किया । यह सब काम तबत था, ऐसा तो आप नहीं मानते होंगे । राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दी का प्रचार वाञ्छनीय है यह तो आपका विद्वान्त ही । आपके नये दृष्टिकोण के अनुसार उर्दू-प्रचारण का भी प्रचार होना चाहिये । यह पहले काम से भिन्न एक नया काम है जिसका पिछले काम से कोई विरोध नहीं है ।

सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानता है । उर्दू को वह हिन्दी को एक शैली मानता है, जो विशिष्ट जगहों में प्रचलित है ।

स्वयं वह हिन्दी की साधारण शैली का काम करता है, उर्दू शैली का नहीं । आप हिन्दी के साथ उर्दू को भी चलाते हैं । सम्मेलन उसका तनिक भी विरोध नहीं करता ; किन्तु राष्ट्रीय कामों में अंग्रेजी हटाने में वह उसकी सहायता का स्वागत करता है । मेरे केवल मतना है कि आप दोनों चलाना चाहते हैं । सम्मेलन आरम्भ से केवल हिन्दी चलाता आया है । हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सदस्यों की हिन्दुस्तानी-प्रचार-समा के सदस्य होने में रोक नहीं है । हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से निर्वाचित प्रतिनिधि हिन्दुस्तानी एकेडमी के सदस्य है और हिन्दुस्तानी एकेडमी हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियों में लिपियाँ चलाती है । इस दृष्टि से मेरा निवेदन है कि मुझे इस विषय का कोई अवसर नहीं लगता कि आप सम्मेलन छोड़ें ।

एक बात इस संबंध में और भी है । यदि आप हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सदस्य न होते तो सम्भवतः आपके लिए यह ठीक होता कि आप हिन्दुस्तानी-प्रचार-समा का काम करते हुए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को चलाने की आवश्यकता न देखते; परन्तु जब आप इतने समय से सम्मेलन में हैं तब उसका छोड़ना इसी दशा में उचित हो सकता है । निश्चित रीति से उसका काम आपके नए काम के प्रतिकूल हो । आपने अपने पहले काम को रखते हुए उसमें एक शाखा बनाई है । विरोध की कोई बात नहीं है ।

मुझे जो बात उचित लगी ऊपर निवेदन कर दी। किन्तु यदि आप मेरे दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं और आपकी भावना यही कहती है कि सम्मेलन से अलग हो जाऊँ तो आपके अलग होने की बात पर बहुत खेद होते भी नव मस्तक हो आपके निर्यात को स्वीकार करूँगा।

हाल में हिन्दी और उर्दू के विषय में एक वक्तव्य भेजे दिया था, उसकी एक प्रतिलिपि सेवा में भेजता हूँ। निवेदन है कि इसे पढ़ लीजिएगा।

विनीत—

पुरुषोत्तमदास टंडन।

पुनः—इस समय न केवल आप, किन्तु हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के मंत्री श्रीमन्नारायण जी तथा कई अन्य सदस्य सम्मेलन की राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति के सदस्य हैं। एक स्पष्ट लाभ इससे यह है कि राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति और हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के कामों में विरोध न हो सकेगा। कुछ मतभेद होते हुए भी साथ काम करना हमारे नियंत्रण का अंश होना उचित है।

—पु० दा० टंडन

पंचगनी

१३-६-४६

भाई पुरुषोत्तमदास टंडन जी,

आपका पत्र कल मिला। आप जो लिखते हैं उसे मैं बराबर समझा हूँ तो नतीजा यह होना चाहिए कि आप और सब हिन्दी प्रेमी मेरे नये दृष्टिकोण का स्वागत करें और मुझे मदद दें। ऐसा होना नहीं है। और गुजरात में लोगों के मन में दुविधा हो गई है। मुझसे पूछ रहे हैं कि क्या करना? मेरे ही भतीजे लड़का और ऐसे बूरे, हिन्दी का काम कर रहे हैं और हिन्दुस्तानी का भी। इससे गुस्सीबत पैदा होनी है। पेरिन बहन को तो आप जानते ही हैं। वह दोनों काम करना चाहती हैं। लेकिन अब मौका आ गया है कि एक या बूरे को छोड़ें। आप कहते हैं यह सही है तो ऐसा मौका आना ही नहीं चाहिए। मेरी दृष्टि से एक ही भादमी हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा

और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का मंत्री या प्रमुख बन सकता है । बहुत काम होने के कारण न हो सके तो वह दूसरी बात है; और यह मैं कहता हूँ वही धर्म आपके पत्र का है, और होना चाहिए । तब तो कोई मतभेद का कारण ही नहीं रहता और मुझको बड़ा आनन्द होगा । आपका जो वक्तव्य आपने भेजा है मैं पढ़ गया हूँ । मेरी दृष्टि से हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा बिल्कुल आप ही का काम कर रही है, इसलिए वह आपके धन्यवाद की पात्र है । और कम-से-कम उसमें आपको सदस्य होना चाहिए । मैंने तो आपसे विनय भी किया कि आप उसके सदस्य बने लेकिन आपने इन्कार किया है, ऐसा कहकर कि जब तक डाक्टर अन्दुल हक न बनें, तब तक आप भी बाहर रहेंगे । अब मेरी दख्खास्त यह है कि अगर मैं थोक लिखता हूँ और हम दोनों एक ही विचार-के हैं तो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की धोर से यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए । यद्यपि इसकी आवश्यकता नहीं है तो मेरा कुछ धाम्य नहीं है । कम-से-कम दोनों में तो हम बारे में मतभेद नहीं है, इतना स्पष्ट होना चाहिए । हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में से निकलना मेरे लिए कोई मजाक की बात नहीं है । लेकिन जैसे मैं कांग्रेस में से निकला तो कांग्रेस की ज्यादा सेवा करने के लिए, उसी तरह अगर मैं सम्मेलन में से निकला तो भी सम्मेलन की धर्याँर हिन्दी की ज्यादा सेवा करने के लिए निकलूँगा ।

जिसको आप मेरे नये विचार कहते हैं वे सचमुच तो नये नहीं हैं । लेकिन जब मैं सम्मेलन का प्रथम सभापति हुआ तब जो कहा था और दोबारा सभापति हुआ तब अधिक स्पष्ट किया, उसी विचार-प्रवाह का मैं धर्म, स्पष्ट रूप से धमक कर रहा हूँ, ऐसे करा जाय । आपका उतर आने पर मैं आतिश का निर्णय कर लूँगा ।

आपका

—मो० क० गांधी

पूज्य बापू जी, प्रणाम ।

११-७-४२

आपका पंचगनी से लिखा हुआ १३ जून का पत्र मिला था । उसके तुरन्त बाद ही राजनीतिक परिवर्तनों और आपके पंचगनी से हटने की बात सामने आई । मेरे मन में यह आया था कि राजनीतिक कामों की भीड़ से थोड़ी सुविधा जब आपके पास देखूँ तब मैं लिखूँ । आज ही सवेरे मेरे मन में आया कि इस समय आपको कुछ सुविधा होगी । उसके बाद श्री प्यारेसाहब जी का २ तारीख का पत्र आज ही मिला, जिसमें उन्होंने सूचना दी है कि आप मेरे उत्तर की राह देख रहे हैं ।

आपने अपने २८ मई के पत्र में मुझसे पूछा था कि—मैं कैसे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में रह सकता हूँ और हि० प्र० सभा में भी ? इस प्रश्न का उत्तर मैंने अपने ८ जून के पत्र में आपको दिया । मेरी बुद्धि में जो काम हि० सा० सम्मेलन कर रहा है उससे आपके आगे काम का कोई विरोध नहीं होता । इस १३ जून के पत्र में आपने एक दूसरे विषय की चर्चा की है । आपने लिखा है कि 'आप और सब हिन्दी-प्रेमी मेरे नये दृष्टिकोण का स्वागत करें और मुझे मदद दें' । मैंने मौजिक रीति से आपको स्पष्ट करने का यत्न किया था, और जिस वक्तव्य की नकल मैंने आपको भेजी थी उसमें भी मैंने स्पष्ट किया है कि मैं आपके इस विचार से कि प्रत्येक देशवासी हिन्दी-और उर्दू दोनों सीखें, सहमत नहीं हो पाता । मेरी बुद्धि स्वीकार नहीं करती कि आपका यह नया कार्यक्रम व्यावहारिक है । मुझे तो दिखाई देता है कि बंगाली, गुजराती, मराठी, उर्दू आदि को छोड़ने वाले इस कार्यक्रम को स्वीकार नहीं करेंगे ।

हिन्दी और उर्दू का समन्वय ही इस सिद्धान्त में पूरी तरह से मैं आपके साथ हूँ । किन्तु यह समन्वय, जैसा मैंने आपसे बम्बई में निवेदन किया था और जैसा मैंने वक्तव्य में भी लिखा है, तब ही सम्भव है जब हिन्दी और उर्दू के लेखक और उनकी संस्थाएँ इस प्रश्न

दृष्टि से मैंने काम किया है। उद्' के विरोध का तो मेरे सामने प्रश्न ही ही नहीं सकता। मैं तो उद्' वालों को भी उम्मी भाषा की ओर खींचना चाहूँगा जिसे मैं राष्ट्र-भाषा कहूँ। और उम खींचने की प्रति-क्रिया में स्वभावतः उद्' वालों का मत लेकर भाषा के स्वरूप-परिवर्तन में भी बहुत दूर तक कुछ निश्चित विज्ञान के आधार पर जाने को तैयार हूँ। किन्तु अब तक वह काम नहीं होता तब तक हमी से सन्तोष करता हूँ कि हिन्दी द्वारा राष्ट्र के बहुत बड़े अंशों में एकता स्थापित हो।

आपने जिस प्रकार से काम उठाया है वह ऊपर मेरे निवेदन दिये हुए क्रम से बिजबुल अलग है। मैं उमका विरोध नहीं करता, किन्तु उसे अपना काम नहीं बना सकता।

आपने गुजरात के लोगों के मन में दुविधा पैदा होने की बात खेची है। यदि ऐसा है तो कृपया विचार करें कि हमका कारण क्या है। मुझे तो यह दिखाई देता है कि गुजरात के लोगों (तथा अन्य भाषाओं के लोगों) के हृदयों में दोनों लिपियों के सीधने का मिश्रान्त बस नहीं रहा है; किन्तु आपका ब्यक्तिगत इस प्रकार का है कि जब आप कोई बात कहते हैं तो स्वभावतः इच्छा होती है कि उसकी पूर्ति हो जाय। मेरी भी ऐसी ही इच्छा होती है; किन्तु बुद्धि आपके बताने का निरीक्षण करती है और उसे स्वीकार नहीं करती।

आपने पेरिन बहन के बारे में लिखा है। यह सच है कि वह भी काम करना चाहती हैं। उसमें तो कोई बाधा नहीं है। राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति और हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के कार्यकर्ताओं में शीघ्र ही शीघ्र ही एक-दूसरे के कामों को उदारता से देखें—हममें कोई बाधा सहायक होगी कि हि० प्र० सभा और रा० प्र० समिति का एक-दूसरे के सदस्य हों, एक ही संस्था द्वारा न चले। एक ही पदाधिकारी दोनों संस्थाओं के हो से व्यावहारिक कठिनाइयाँ और बुद्धि-भेद होगा।

इसलिए पदाधिकारी अलग-अलग हों। आपकी याद दिवाला है कि इस सिद्धान्त पर आप से सन् ४२ में यात्रे हुई थी जब हिन्दुस्थानी-प्रचार-समा बनने लगी। उसी समय मैंने निवेदन किया था कि रा० प्र० समा का मन्त्री एक होना उचित नहीं। आपने इसे स्वीकार भी किया था और जब आपने श्रीमन्नारायणजी के लिए हि० प्र० समा का मन्त्री बनना आवश्यक बताया तब ही आपकी अनुमति से यह निरधर हुआ था कि कोई दूसरा व्यक्ति रा० प्र० समिति के मंत्री पद के लिए भेजा जाय। और उसके कुछ दिन बाद आनन्द कौशल्यायन जी भेजे गए थे। यही सिद्धान्त पेरिन बहन के सम्बन्ध में लागू है। जिस प्रकार श्रीमन्नारायण जी हिन्दुस्थानी-प्रचार-समा के मंत्री होते हुए रा० प्र० समिति के स्वयं रहे हैं, उसी प्रकार पेरिन बहन दोनों संस्थाओं में से एक की मंत्रिणी हों और दूसरे में भी सुचक्र काम करें। इसमें तो कोई कठिनाई की बात नहीं है। यही सिद्धान्त सब मामलों के सम्बन्ध में लगेगा। संभवतः श्रीमन्नारायण जी उन सब स्थानों में जहाँ रा० प्र० समिति का काम हो रहा है, हि० प्र० समा की शाखाओं खोलने का प्रयत्न करेंगे। उन्होंने रा० प्र० समिति के कुछ पदाधिकारियों से हि० प्र० समा का काम करने के लिए पत्र-व्यवहार भी किया है। आपस में विरोध न हो इसके लिए यह मार्ग उचित है कि दोनों संस्थाओं की शाखाएँ अलग-अलग हों। और उनके मुख्य पदाधिकारी अलग हों। साथ ही भेद और समझौता रखने के लिए दोनों की सदस्यता सबके लिए खुली रहे यह तो मेरी बुद्धि में ऐसा काम है जिसका स्वागत होना चाहिए।

आपने मेरे वक्तव्य को पढ़ने की कृपा की और उससे चारने यह परिणाम निकाला कि हि० प्र० समा बिलकुल मेरा ही काम होगी और मुझे उसका सदस्य होना चाहिए। चारने यह भी लिखा कि आपने यह भी लिखा कि चारने मुझसे सदस्य होने के लिए कहा था किन्तु मैंने यह कहकर इन्कार किया कि जब तक अष्टुब दूध साइब

उसके सदस्य न बनेंगे मैं भी बाहर रहूँगा। यह सच है कि मैं हि० प्र० सभा का सदस्य नहीं बना हूँ। इस सम्बन्ध में सन् ४२ में काका काबेकर जी ने मुझसे कहा था और हाल में डा० वाराचन्द ने। आपने बम्बई में पञ्चगमी जाने से पहले एक लिफाफे में दो पत्र मुझे भेजे थे। उनमें से एक में आपने इस विषय में लिखा था। किन्तु मुझे बिलकुल स्मरण नहीं है कि कभी आपने मौखिक रीति से मुझसे हि० प्र० सभा के सदस्य बनने के लिए कहा हो और मैंने अम्बुल-हक साहब का हवाला देकर हन्कार किया हो। मुझे लगता है कि आपने एक सुनी हुई बात को आपने सामने हुई बात में स्पृति-भ्रम से परिवर्त कर दिया है। सन् ४२ में काका जी ने जब चर्चा की उस समय मैंने उनसे मौलवी अम्बुलहक तथा उद्दू' वालों को जाने की बात अवश्य कही थी। सात्यत नहीं था जो आज भी है अर्थात् यह कि जब तक हिन्दी और उद्दू'-लेखक हिन्दी उद्दू' के समन्वय में शरीक नहीं होते तब तक यह यत्न सफल नहीं हो सकता। हि० प्र० सभा यदि इस काम में कुछ भी सफलता प्राप्त करेगी तो यह अवश्य मेरे अन्वेषण की पात्री होगी। आज तो हि० प्र० सभा में शामिल होने में मेरी कठिनता इसलिफ् बढ़ गई है कि यह हिन्दी और उद्दू' दोनों को मिलाने के अतिरिक्त हिन्दी और उद्दू' दोनों शैलियों और लिपियों को अलग-अलग प्रत्येक देशवासी को सिखाने की बात करनी है।

यह तो मैंने आपके पत्र की बातों का उत्तर दिया। मेरा निवेदन है कि इन बातों से यह परिणाम नहीं निकलता कि आप अथवा हि० प्र० सभा के अन्य सदस्य सम्मेलन से अलग हों। सम्मेलन हृदय से आप सबों को अपने भीतर रखना चाहता है। आपके रहने से यह अपना गौरव समझता है। आप आज जो काम करना चाहते हैं वह सम्मेलन का अपना काम नहीं है। किन्तु सम्मेलन जितना करता है वह आपका काम है। अगर उससे अलग जो करना चाहते हैं उसे सम्मेलन में रहते हुए भी स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते हैं। —पु० दा० टण्डन

आपका ता० ११-७-४२ का पत्र मिला मैंने दो बार पढ़ा। बाद में भाई किशोरीलाल भाई को दिया। वे स्वतंत्र-विचारक हैं और जानते होंगे। उन्होंने लिखा है सो भी भेजता हूँ। मैं तो इतना ही कहूँगा, जहाँ तक हो सका मैं आपके प्रेम के अर्धीन रहा हूँ। अब समय आया है कि वही प्रेम मुझे आपसे वियोग करावेगा। मैं मेरी बात नहीं समझ सका हूँ। यही पत्र आप सम्मेलन की स्थायी समिति के पास रखें। मेरा जवाब है कि सम्मेलन ने मेरी हिन्दी की व्याख्या अपनाई नहीं है। अब तो मेरे विचार इसी दिशा से आगे बढ़े हैं। राष्ट्र-भारत की मेरी व्याख्या में हिन्दी और उर्दू-लिपि और दोनों शैली का ज्ञान आता है। ऐसा होने से ही दोनों का समन्वय होने का है तो ही जायगा। मुझे डर है कि मेरी यह बात सम्मेलन को चुमेगी। इसलिये मेरा हस्तीका कबूल किया जाय। हिन्दुस्तानी प्रचार का कठिन काम करते हुए मैं हिन्दी की सेवा करूँगा और उर्दू की भी।

आपका—मो० क० गांधी

०

१० कास्थबेट रोड, इलाहाबाद

पूज्य बापू जी,

२-८-४२

आपका २२ जुलाई का पत्र मिला। मैं आपकी आज्ञा के अनुसार खेद के साथ आपका पत्र स्थायी समिति के सामने रख दूँगा। मुझे तो जो निवेदन करना था अपने पिछले दो पत्रों में कर चुका।

आपके पत्र के साथ भाई किशोरीलाल मरहूवाजी का पत्र मिला है। उनको मैं अलग उत्तर लिख रहा हूँ। यह इसके साथ है। कृपया उन्हें दे दीजियेगा।

विनोद—

पुरुषोत्तमदास टण्डन

राष्ट्र-भाषा का स्वरूप

(डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद)

देश में इन दिनों राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी का जो विवाद उठ सका हुआ है, उसके सम्बन्ध में भी मैं अपने विचार रखता हूँ। साहित्यिक जो भाषा बिल्खेंगे, वही भाषा भागें चल सकेगी। जो चीज़ जटिल हिन्दी अथवा जटिल उर्दू में लिखी जावगी, वह भागें चलकर मर जावगी। भाषा में जीव है, जीवन-दान करने की शक्ति है। जिस साहित्य में सरल और सुन्दरता है, वह अवरण आविष्ट रहेगा। अस्पष्टी-से-अस्पष्टी भाषा में भी असुन्दर और असाध चीज़ें विरस्थाप्य नहीं हो सकतीं।

मैं इस विवाद को बनाना नहीं चाहता। जो साहित्यिक हैं और अस्पष्टी-से-अस्पष्टी हिन्दी या उर्दू में अपने भाषों को रख सकते हैं, वे उसी तरह रहें। भाव पर ही भाषा का जीवन निर्भर है। यदि हम सदा सुन्दर साहित्य-निर्माण नहीं कर सकते तो भाषा की सारी कोशिश व्यर्थ है।

सम्मेलन को बनाना चाहता है, उसे सोच-समझकर वह करे। इण्डो-अरब की चीज़ों पर ध्यान देकर अपनी और जनता की शक्तियों का हासल करे। १९१० ईस्वी में इण्टी-वाला के समय कुछ लोगों ने महत्त्वा-ग्राही से वह अतुल्य किया था कि आज अपने राष्ट्रोन्नत के समय

एक ऐसा भाषण कीजिए, जिसका रिकार्ड बनाया जाय ताकि देश के कोने-कोने में आसानी से आपके विचारों का प्रचार हो सके । गान्धी जी ने जवाब में कहा—यदि मेरी बात में सचाई है तो बिना रिकार्ड के ही लोग उसे सुन लेंगे । वही तरह, जिस साहित्य में सचाई है वह चाहे जिस भाषा में हो, अवश्य जीवित रहेगा । अतएव मैं अपने को इस ऋग्दे से अलग रखना चाहता हूँ ।

मैं साहित्यिक नहीं और न होने का दावा रखता हूँ । राष्ट्र-भाषा-प्रचार के काम में मैं रहा हूँ । मैं हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा मानता हूँ । इसके प्रचार के लिए मुझसे जो कुछ बन पड़ा है, मैंने किया है ।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कार्य—सम्मेलन के दो कार्य हैं,

(१) साहित्य-निर्माण और (२) राष्ट्र-भाषा-प्रचार । इसी दूसरे काम में थोड़ा सहयोग करने के कारण मैं सम्मेलन के ऊँचे-से-ऊँचे पद पर पहुँचाया गया हूँ । मैं हिन्दी के प्रचार—राष्ट्र-भाषा के प्रचार—की राष्ट्रीयता का मुख्य अंग मानता हूँ । मैं चाहता हूँ कि वह भाषा ऐसी हो, जिसमें

हमारे विचार आसानी से साफ-साफ स्पष्टतापूर्वक व्यक्त हो सके । इन सम्बन्ध में हमें दो-तीन चीजों को ध्यान में रखना चाहिए—(१) राष्ट्र भाषा ऐसी होनी चाहिए, जिसे केवल एक जगह के ही लोग न समझें

बल्कि उसे देश के सभी प्रान्तों में सुगमता से पहुँचा सकें । जब यह सवाल उठा कि बंगाल, गुजरात, तेलंगू, मद्रास आदि प्रान्तों के लोगों को आसानी से समझने के लिए हमारी राष्ट्र-भाषा का रूप कैसा हो, तब

हम लोगों की सोचना पड़ा कि इन सब भाषाओं में संस्कृत का समावेश हो चुका है । ऐसे संस्कृत शब्दों को, जिनका समावेश उपर्युक्त भारतीय भाषाओं में हो चुका है, हिन्दी से निकालना हम कबूत नहीं कर

सकते । उन्हें निकालकर हम हिन्दी की उन प्रान्तों के लोगों के लिए और कठिन बना देंगे । (२) साथ ही, उत्तरी भारत में बहुत-से लोग

अरबी-फारसी मिश्रित भाषा का प्रयोग करते हैं । उन लोगों के लिए हिन्दी को संस्कृत के जटिल शब्दों से कठिन और दुष्कर बनाना भी ठीक

नहीं है । अतएव हमें हिन्दी को सरल और सुगम बनाना ही चाहिए ।

हैं। एक तरफ हम लोग अहिन्दी-भाषी प्रांतों के लोगों को अपनी ओर खींचना चाहते हैं और दूसरी ओर हिन्दी-भाषी प्रांतों के लोगों को एक साथ बाँधकर ले चलना चाहते हैं। (३) नाम से हमें कोई झगदा नहीं। हिन्दी या उर्दू या हिन्दुस्तानी किलो भी नाम का प्रयोग कोई करे, हमें आपत्ति न होगी। राष्ट्र-भाषा वही भाषा हो सकती है जिसमें जो शब्द प्रचलित हो गए हैं, वे रहें। भाषा ऐसी चोज़ नहीं जो कमेटियों में प्रस्तावों से बने। समय और स्थिति के प्रभाव से ही राष्ट्र-भाषा का निर्माण होगा। अगर मैं हिन्दुस्तानी का पक्षपाती हूँ, तो मेरी हिन्दुस्तानी का स्वरूप कठिन दुर्बल उर्दू नहीं, और न कठिन संस्कृतमयी हिन्दी है।

साहित्य और राष्ट्र-भाषा में अन्तर है। हो सकता है, साहित्य की भाषा कठिन हो। वैयक-शास्त्र, 'सर्जरी' 'मेडिसिन' आदि के ग्रन्थों की भाषा कठिन होगी ही। उनमें कुछ अँगरेजी शब्दों का भी प्रयोग होगा ही। पर हिन्दी के पारिभाषिक शब्द हमारी संस्कृति के सुताविक 'संस्कृत' से ही लेने होंगे, कहीं-कहीं अँगरेजी से भी सहायता लेनी होगी।

समाचार-पत्रों तथा बोल-चाल की भाषा—समाचार-पत्रों की भाषा उच्च साहित्य की भाषा से भिन्न होगी और बोल-चाल की भाषा एक तीसरे प्रकार की होगी। बङ्गाल, गुजरात प्रभृति अहिन्दी प्रांतों में इसी तीसरी कोटि की भाषा राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रचलित होगी। इसे दूसरी भाषाओं से कोई झगदा नहीं है। तेलगू और कन्नड़ (सीमा-प्रांत) के भाई भी जितने समझ सकें, वही भाषा राष्ट्र-भाषा है।

: २ :

जनता की भाषा का प्रश्न .

(राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन)

आज हमारे देश में हिन्दी का मान है । आन्तरिकतार्प जनता के सम्पर्क में आने के लिए जनता की भाषा के निकट आना आवश्यक कर देती है । इस प्रकार भाषा एक दूसरे से मिलनी हुई भाषा की भी जाती है । संस्कृत का पात्री से मिश्रण है । उसका सम्बन्ध प्राणभी ।

हिन्दुओं की। मुसलमानों ने ही इसे हिन्दी, हिन्दवी नाम दिया। अरबी फारसी से भरी हिन्दी का नाम पीछे से उर्दू दिया गया। इस प्रकार १७ वीं शताब्दी के अगमग बह टण्डन में पनपी और दिखी आई फिर वहाँ से अखनऊ। तब 'नासिक' व 'मठरक' का सिद्धान्त निकला। उन्होंने गँवारू अर्थात् कहकर कुछ शब्दों की छिदरिस्त बनाई और उन्हें निकालकर अरबी-फारसी का प्रयोग कराया। उन्होंने जो यह रंग दिया वह खल गया और उर्दू का विकास हुआ। 'फिसानाए आजाद' के लेखक सरूर साहब ने नासिक की शारीक में लिखा—

मुलमुले शीराज को है
रक नासिक का सरूर।
इसका उतने किये है
कूचहार अखनऊ ॥

अर्थात् अखनऊ को फारस बना दिया। इस शारीक से ही अनुमान कर सकते हैं कि नासिक साहब की रंगत क्या थी। यह १८ वीं शताब्दी के आरम्भ की बात है। फारसी खल नहीं सकती थी, इसलिए उन्होंने अरबी-फारसी-मिश्रित उर्दू को खड़ाया। उनके इस स्वप्न से कि इस भाषा में फारसी के शब्दों का इतना आहुत्व कर दें कि वह फारसी के निकर या भाव, रस का किनासा खाम हुआ यह भाषा-विज्ञान पर विचार करने वाले सोच सकते हैं। यह उर्दू की हिन्दू और मुसलमानों को अंशाने की। इसने हमारी भाषा को बड़ा मुकाम पहुँचाया। भाषा समाज की सेवा के लिए है। उसका मरना अथवा की सेवा में है।

नासिक के समय का समाज गिरा हुआ था। बानिहच्छा का दरवार सदा हुआ था, पठनोत्सुख था। ऐसे ही दरवार के लिए नासिक-त्रैसे खोव लिखा करने के। उन्होंने ही भाषा में हिन्दू-मुसलमान का भेद खत्म किया।

भावा और भरी—हमें देना है कि जिनका का काम दिगमें है। हम देनी भावा लेकर कबे दिगमें मानवर्ष में पकना उलम्न कर गके। १७ की जगती में दिग्दी और उद् में जो पकना भावा वह भावा भी है और पहले से बरा हुआ है। मुगजमान भावों में उद् में पकना का काम लगा दिया है। दूर देना के प्रेम की मुगन साकर मदी कर ही। पाठ-भावा के माध्यम को भावा में जोड़ दिया। देना करके वे इस्मादी संस्कृति को मजबूत करने है, देनी उतकी भावा है। हमका मनीता यह है कि वे समझते हैं कि उद् सीधना चाहिए। उद् भावा का पकना माध्यम नहीं है। हाँ कुरान करवी में है। जिन में मुगजमान है, पर क्या वे चरबी-मिथिन खोजते हैं। इस्लाम का केन्द्र मुर्षी है। वहाँ हमारा पकानुर्षी ने जो काम किया वह जगता की दृष्टि से मुर्षी को भागे से जाने के सिद्ध। उन्होंने अपनी भावा से चरबी-जगती सत्रज निवान फेके, देना उन्हें धन

कि रेडियो की भाषा-नीति हिन्दी-विरोधी है। सरकार ने एक कमेटी
 गई। उसमें साहित्य-सम्मेलन और अंतुमने-तरफकी ए उद्देश्य के
 विनिधि मुद्राये और उसके साथ रेडियो-कमेटी बंठी। उसने प्रश्न
 का और साथ में तीन शब्द लिख भेजे। अंगरेजी के 'इकनामिक'
 शब्द के लिए रेडियो की भाषा में क्या रखा जाय 'इफ्तसादी' या
 'आर्थिक' ? यदि किसी का स्वागत करना है तो उनके लिए 'स्वागत'
 है या 'इस्तकबाज' ? इस सवाल का इत्त कैसे हो ? कोई सिद्धान्त
 ना चाहिए। कठहुज्जती की बात छोड़ें। अरबी-फारसी रखना चाहते
 तो रखें, बात भिन्न है। पर संस्कृत और प्राकृत से भागकर
 अपने कहीं ? यह तो हमारी नसों में घुसी है। यह भाषा की जड़
 । संस्कृत छोड़ो, फारसी छोड़ो, यह कठहुज्जती है। शब्दों के प्रयोग
 यह ध्यान रखना पड़ेगा कि अधिक-से-अधिक लोग उसे किस रूप
 समझ सकेंगे हमें उन्हीं पातुषों और शब्दों को लेना होगा।
 'स्वागत' और 'इस्तकबाज' नहीं। मराठी, पञ्जाबी, उर्दिया और गुजराती
 बोलने वाले भी उसे ही समझ सकेंगे। निश्चय है कि प्राकृत से
 बनी संस्कृत समीप जो शब्द होगा वही अधिक-अधिक समझा जा
 सगा।

राष्ट्र-भाषा का स्वरूप—एक बार मुझे महाराष्ट्र जाने का अवसर
 मिला। वहाँ मैं राष्ट्र-भाषा-प्रचार परीक्षा में उत्तीर्ण परीक्षार्थियों को
 प्रमाण-पत्र देने के लिए सभा हुई। प्रमाण-पत्र मेरे हाथ से बँटवाया
 गया। प्रमाण-पत्र लेने वालों में बड़ी उम्र की लड़कियाँ, माताएँ,
 ० ए०, एम० ए० उत्तीर्ण लोग प्रमाण-पत्र लेने आये। उस सभा के
 भाषति ग० र० वैशम्पायन जी थे। मैं उस सभा में जब बोल चुका तो
 की भाषा की टीका करते हुए वैशम्पायनजी ने कहा—“आपने दंडनजी
 भाषण सुना है। इससे पहले आपने जब दो बड़े नेताओं के भाषण
 सुने थे तब प्रश्न किया था कि क्या यही राष्ट्र-भाषा का स्वरूप है ?
 यदि उसका यही स्वरूप है तो बाज आये ऐसी राष्ट्र-भाषा से। इससे

तो भाषा ही मधी। इनके अन्तर्गत से आधी-आगती सिद्धि थी। पर वह राष्ट्र-भाषा का स्वरूप नहीं था। उगना स्वरूप वह है जो भाषा ने ईदमभी ही गुमा है। भाषा जब हुये सम्मन्ध गते का मही ?" गवने कर-“ही”। यदि भाषा 'व्यंग्य' श्रेष्ठ भाषां तो उक्ति, वंताही म्हाभाषी भाषी भाषाका व्यंग्य करते। 'व्यंग्यवाक्य' श्रेष्ठ भाषांते ही भाषाका कीर् 'व्यंग्यवाक्य' न करेगा। ही करने का सम्भव वह नहीं कि जो आधी-आगती के राष्ट्र व्यवस्था है उन्हे विचार में। ये अपने महीव भाषांते ही कहूंगा कि यदि वे 'मुद्र' और 'मुद्राव्यवस्था' विस्तार आदने है तो विन्ने पर 'व्यंग्यवाक्य' व 'व्यंग्य' श्रेयो भाषा की अन्तर्गत नहीं है। भाषा भाषा विन्ने। इस सम्मन्ध के हुकरे है। भाषा हुमन्त्रि मीलने है कि गवने पाय भाषां। 'व्यंग्यवाक्य' और 'व्यंग्य' हीनो व्यवस्था सम्मन्ध है पर 'व्यंग्य' के सम्मन्धे बाये 'व्यंग्यवाक्य' सम्मन्धे बायो से बायो स्वादा है। दरम वह है कि क्या राष्ट्र क्याभा ही तो कहीं भाषां ? यदि वेद राष्ट्र से काम नहीं करता तो माहृत और वीहृत के पाय भाषां पर कबो की शरय नहीं ही जा सकती।

हमें राष्ट्रों का ऐसा श्रेष्ठ करना चाहिए जो भाषा की शरय है। भुक्तमन्त्रों की भी भाषा की शरय देने का व्यवस्था करना चाहिए। भाषा तो भाषा में ही विकसित है। हिन्दो-यहू' की शरय में विकसित की हीन विषी से, जो हीन श्रेष्ठ ही भाषा का हिन्दो-यहू' का शरय सम्मन्ध के शरय का एक हुकरा है।

भाषा का विकेन्द्रोत्कर्ष—हिन्दो राष्ट्रवाला की शरय है। विकेन्द्रोत्कर्ष के सम्मन्धे ही शरयोंसे से काम लेना चाहिए। हिन्दो-यहू' के अन्धे से हमें सब लेना चाहिए। वेद शरय ही शरय लेना चाहिए। हिन्दो शरयों में शरय है। हिन्दो के हुकरे क्या राष्ट्रवाला के हुकरे क्या है। श्रेष्ठो, सम्मन्धे, शरयों चाहे सब सम्मन्धों की शरय

का माध्यम बनाय तो हिन्दी कहीं रहेगी और राष्ट्रीय एकता कहीं रहेगी। अलग-अलग जनपद को भाषा के अन्तर को लेकर, उसे अपनाकर हम हिन्दी का अहित करेंगे। हिन्दी सैकड़ों वर्षों के भाषा के विकास के परिणाम स्वरूप बनी है। यज्ञभाषा, अवधी, राजस्थानी आदि सब हिन्दी के स्तम्भ हैं। ये सब-हमारी धाती हैं। 'सूर-सागर', 'रामायण' और जायसी के ग्रन्थ स्तुत्य हैं।

हमसे यह कहा जाता है कि मानू-भाषा में बोलना-लिखना सीखने में सुगमता होती है। पर यहाँ के वाक्यों को मैं तो नहीं समझता कि 'जाता है, खाता है, सीखने में कोई कठिनाई पड़ती है। यह तो मानू-भाषा के ही समान है। हमारे पूर्वजों ने जैसी भूल की वैसी ही भूल यदि हम करें और भिन्न-भिन्न बोलियों को शिक्षा का माध्यम बनाय तो हमारी भूल का परिणाम हमारी भावी सन्तान को भुगटना पड़ेगा और एकता का सूत्र बिखर जायगा।

लिपि का प्रश्न—अब लिपि का प्रश्न लीजिए। लिपि यही रहे या भिन्न हो। मेरी दृष्टि में 'लिपि ऐसी होनी चाहिए जिसे राष्ट्र-भाषा स्वीकार करे। स्वरो को देखिए। 'अ' और 'इ' को लीजिए—बदि 'अ' में 'इ' की मात्रा लगाकर 'अि' कर दें तो सुगमता हो जाय। 'अ' में 'ओ' की मात्रा लगाकर हम 'ओ' बनाते ही हैं। फिर इसमें क्या आपत्ति है। पर नहीं हम रुझिवाही हैं। अगर हम पुरानी बात से सितकने को कहते हैं तो लोग चौकने हैं। संसार उन लोगों का है जो समय के भेद से समय का भेदन करते हैं। हमारी लिपि सबसे अधिक वैज्ञानिक है। शार्टहेड के आविष्कारक सर आईजक पिटमैन इंस्ट्रुमण्ट्स कंपनी के मौकर होकर यहाँ आये। उन्होंने हिन्दी का वर्गीकरण देखा। हमारा वर्गीकरण ध्वनि पर है। इसे देखकर उन्होंने कहा कि वे विरव के पूर्ववर्तम अक्षर हैं। सैयद अली बिक्रामाजी ने अपने जाति-बन्धुओं से कहा था कि समय बचाना चाहते हो तो अपने बच्चों को पागरी सिखाओ। बी० कृष्ण स्वामी अय्यर ने

भी कहा था कि 'मैं तामिल, तेलगू वालों से अपील करता हूँ कि वे अपनी लिपि छोड़कर नागरी लिपि अपनायें।' शारदाचरण मित्र ने भी ऐसी ही सलाह दी थी। पर हम रुढ़िवादी हैं। जहाँ रुढ़ि है वही नाश है। ए, ई, उ को हटाइये कितना हल्का काम हो जायगा। अक्षरों के द्वितीय और चतुर्थों में 'ह' सम्मिलित है। यदि उसके लिए केवल एक-एक चिह्न बना लें तो क्या हानि हो जायगी। हमसे तो दस अक्षरों को बचत हो जायगी। लिपि का स्वरूप बदलता रहना चाहिए।

लिङ्ग-भेद का झगड़ा—शब्दों के लिङ्ग-भेद का भी एक प्रश्न है। बिहारी और बंगाली भाइयों के सामने यह समस्या विशेष रूप से आती है। राजेन्द्र बाधू ने एक बार कह दिया था 'बाद आया, जाइन टूट गया।' उसमें क्या अशुद्ध है? क्या लिंग का झगड़ा मिटाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में मुझे कुछ नियम सूझे हैं। हमसे यहाँ लिंग-भेद की भूल उच्चारण के कारण होती है। हम अकारांत को प्रायः पुर्विलग और इकारांत को स्त्रीलिंग बोलते हैं। जहाँ अर्थ स्पष्ट है वहाँ अन्वय यह अपनाते में हानि क्या है? यह प्रश्न आप पर छोड़ता हूँ। आप विचार करें।

संस्कृत समय के अनुपयुक्त—एक बात संस्कृतवादियों से भी कहना चाहता हूँ। संस्कृत आदि और पुर्य भाषा है। किन्तु हम संस्कृत का बहुलता से प्रयोग करें वह ठीक न होगा। शिषा के मार्ग में बाधा पड़ेगी। कारी के संहितगण्य तो अरनी शिषा में हिन्दी का प्रयोग होने देना ही नहीं चाहते। पर हिन्दी ही राष्ट्रीयता का स्थान ले सकती है। भावना और ज्ञान जगाने वाली हिन्दी ही हो सकती है, संस्कृत नहीं। संस्कृत को पढ़े-लिखे लोग भी देश के कामों में स्थान नहीं दे सकते। धर्म के काम में भी हिन्दी को ही स्थान दिया जाना चाहिए। धार्मिक संस्था का सम्बन्ध भावना से है। भावना का स्वरूप अतः ही भाषा से ही हो सकता है। यदि संस्था के सम्बन्ध

शुद्ध ने, लूथर ने जनता की भाषा को अपनाया था। धर्म दिखाने या वैसे से सरीदने की चीज़ नहीं है। आप सप्तशती संस्कृत में पवित्रीक है, किन्तु वह दूसरे से पढ़वाने की चीज़ नहीं। यदि आप चाहते हों कि वैसे खर्च कर दूसरे से पाठ, यज्ञ आदि कराकर ईश्वर यहाँ पुण्य इन्द्रराज कर दिया जाय तो यह गहरी भूल है। धर्म धर्मों के समूह यह हिन्दू धर्म के नाश का चिह्न है। यह अधार्मिक प्रवृत्ति हमारी मुलामी की जड़ है। धर्म दिखाने की चीज़ नहीं। उस सम्भव हृदय और मस्तिष्क से है। ज्ञान और भावना जगाने के लिए धार्मिक कृत्य भाषा में किया जाना चाहिए। विवाह पवित्र संस्कार है एक प्रविशत रिता को और दशमलव पाँच आचार्य के कहने के लिए है। पर धार उसका अशुद्ध नाटक कर इस पवित्र संस्कार की शिल्प उबारें जाती है। इस बात पर शुद्ध हृदय से विचार करें। धार्मिक और राष्ट्रीयता के उरथान की प्रतीक हिन्दी है। यदि राष्ट्रीय सुरक्षित है तो धर्म भी सुरक्षित ।

जो काम देववाणी संस्कृत से प्राचीन समय में हुआ था या काम आज हिन्दी कर सकती है। कुछ लोगों ने सपना देखा है। अंग्रेज़ी से देश का काम चलाया जाय। पर यह असम्भव बात है। कॉमिंस में भी पहले अंग्रेज़ी का बोझ-बाज़ा था। कॉमिंस हिन्दी उर्दू में काम करने के लिए मने ही प्रस्ताव रखा था और उ प्रस्ताव ने हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग मने उसी अर्थ में किया था जैसा कि हज़ादाबाद की एकेडेमी ने किया है अर्थात् हिन्दु अथवा उर्दू। उद्देश्य यह कि अंग्रेज़ी के स्थान पर कॉमिंस लोग हिन्दी या उर्दू का प्रयोग करें। कॉमिंस ने यह कभी नहीं किया कि हिन्दुस्तानी नाम की कोई नई भाषा बनाई जाय। ऐसा कहते हैं वे अशुद्ध कहते हैं। कॉमिंस-प्रस्ताव की भाषा में हिन्दुस्तानी शब्द हिन्दी और उर्दू दोनों को समाविष्ट करण है, हय दो से विभक्त्य किस्से दूसरी शैली का नाम नहीं है ।

कुछ लोग बड़ा करते हैं कि उर्दू जरूरी भाषा नहीं है—पर उर्दू
 हम कथन में तनिक भी सचाई नहीं है। उर्दू बड़का भाषा है।
 हिन्दी उर्दू के मेल का योग्य है और मेल प्रेम में होता है। कि
 दुमरो को सम्मिल करने के लिए हम अपनी भाषा में परिवर्तन कैसे
 सकते हैं। एक शायद ही कि मेल ही और दुमरा ठय तक प्या
 नहीं देता तो फिर मेल कैसे सम्भव है। हम चात्र अपनी भाषा
 कितने भी उर्दू के शब्द क्यों न मिजाय—उर्दू वाले हमें
 र्थकने को तैयार नहीं। वर्षों में बँटकर मारा गढ़ना वह ठीक नहीं
 यह दलील कि अगर तुम मेल क पचपानी हो तो ऐसी भाषा बि
 त्रिमते मेल हो, चाहे दुमरा पच ऐसी भाषा न बिभे। देखने में मुन
 है किन्तु वास्तविकता का ध्यान नहीं। हिन्दी और उर्दू के मेल
 तीसरी चीज़ हिन्दुस्तानी के दर्शन की बुझना गंगा और यमुना
 मेल से त्रिवेणी की की गई है। अगर गंगा और यमुना दोनों चाहे
 तभी संगम सम्भव है; अन्यथा नहीं। अगर गंगा मेल करने को
 और यमुना परे हटती जाय तो फिर मिला त्रिवेणी के दर्शन कैसे
 सकते हैं। चात्र जो देश का शाजावरण है वह समय के अनुकूल न
 है। हिन्दी उर्दू के परिदृष्ट यदि बैठें और सद्भावना से शुद्ध विदा
 के अनुसार काम करें तो मेल हो। पर ऐसा अभी होता-दिखाई न
 देता।

पिछले वर्ष से एक दलील यह सुनाई देने लगी है कि सिर्फ हि
 जानने बाबा अर्ध राष्ट्रीय और सिर्फ उर्दू जानने बाबा अर्ध राष्ट्रीय
 और जो दोनों जाने वह पूर्ण राष्ट्रीय है, महजमा जी तो उर्दू न
 जानते थे तो फिर क्या वे अर्ध राष्ट्रीय थे; किन्तु ऐसा कहना द
 नहीं। वे राष्ट्रीयता के खोत्र थे।

—————— बाबा अर्ध बाबा अर्ध सिर्फ उर्दू जानते हैं तो ।

क्या हम स्वर्गीय लिखक और स्वर्गीय सी० आर० दास को अर्धराष्ट्रीय कह सकते हैं ? इस दलील में सार नहीं है ।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने ही अँग्रेजी को हटाने का काम किया है । इस दिशा में काँग्रेस ने विशेष ध्यान नहीं दिया है । भाषा और लिपि एक बहुत बड़ा साधन है जिससे हम सब प्रान्तों को एक दूसरे से मिला सकते हैं । भिन्न-भिन्न प्रान्तों के विद्वानों ने इस बात पर जोर दिया है कि राष्ट्र-भाषा और देवनागरी लिपि सीखो—दूसी में कल्याण है । यह मेरा सपना है कि हम अपनी हिन्दी भाषा द्वारा प्रान्तीय भाषाओं के भगदे मिटा सकते हैं ।

उर्दू की लिपि अपूर्ण है । यह इसकी कठिनता और कमजोरी है । मैं जब-यह सुनता हूँ कि उर्दू सात दिन में सीखी जा सकती है तो मुझे बड़ा अचम्भा होता है—ऐसी बातें वे ही कहते हैं जो उर्दू नहीं जानते । नागरी लिपि तो हम तीन महीने में सिखा सकते हैं किन्तु उर्दू सीखने में दो साल लग जायेंगे । सिर्फ अक्षर, वे, वे पहचान लेने से ही उर्दू नहीं आ जाती ।

मैं मानता हूँ कि राष्ट्रीयता की दृष्टि से यदि हिन्दी में कोई परिवर्तन करना पड़ा तो हम करेंगे, परन्तु साथ ही उर्दू में भी बहुत परिवर्तन करना पड़ेगा । मैं आपसे यही अनुरोध करता हूँ कि आप राष्ट्र-भाषा हिन्दी को अपनायें क्योंकि नागरी लिपि पूर्ण वैज्ञानिक है और सारे देश के लिए नागरी लिपि तथा हिन्दी भाषा सबसे सुलभ है ।

सार्वदेशिक भाषा

(श्री सम्पूर्णानन्द)

हिन्दी के साहित्य-भाग के लक्ष्य विरल-साहित्य के ज्योतिषुष्यों में परिगणित होते हैं। संस्कृत को छोड़कर भाषा भी किसी भी भारतीय भाषा का-वाह्य विस्तार या मौलिकता में हिन्दी के प्रागे नहीं जा सका। इसका एक-मात्र कारण यह है कि शायक के माने जो हो, और उसकी नीति चाहे जैसी हो; हिन्दी भारतीय जनता के एक बहुत बड़े भाग की अपनी भाषा है। हिन्दी-लेखकों की प्रतिभा की भारतीय संस्कृति की आत्मा निरन्तर रक्षित होती रही है, उसकी कृतियों में कौनों भारतीयों की आशाओं, आर्क्षों, हृत्वा-विषाओं की प्रतिबन्धि मिश्रित है। मैं इस बात को नहीं समझ पाता कि कोई भी व्यक्ति, जिसकी भारतीय संस्कृति में प्रेम होगा, इस भाषा को छोड़कर न करेगा। बंगला, गुजराती, परलो वा तामिळ भी अंततः भारतीयता की प्रतिबन्धि करती हैं, परन्तु ऐतिहासिक कारणों से हिन्दी को ही भारत की सार्वदेशिक भाषा होने का गौरव प्राप्त किया है। परन्तु से लेकर दिल्ली तक, हरिद्वार से लेकर अजमेर तक के प्रदेशों में, रामायण काय से लेकर मुगल साम्राज्य के गूदासन तक भारतीय संस्कृति का विकास हुआ। वहीं बड़े-बड़े अक्षरणी राज्यों और साम्राज्यों का उदय हुआ। देश के कोने-कोने से निरन्तर प्रतिभाशाली व्यक्ति बरों

भाषे । यहाँ से विद्वान् और शासक सारे देश में फैले । इसीलिए यहाँ की भाषा स्वतः राष्ट्र-भाषा बन गई ।

हम इस भाषा के पुजारी हैं । यों तो स्वतन्त्र भारत की विधान-परिषद् को पूरा अधिकार होगा कि वह चाहे जिस भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाय, परन्तु हमको पूर्ण आशा है कि वह स्थान भारत की इसी भाषा को प्राप्त होगी । हम इसके लिए वर्षों से प्रयत्न भी कर रहे हैं ।"

अब अरब भाषा के स्वरूप का है । नाम तो गौण है । जो लोग हिन्दुस्तानी नाम को चलाना चाहते हैं उनमें कुछ ने आज तक अपनी मौखिक स्पष्ट नहीं की । उनका कहना है कि हमको सरल, सुबोध भाषा का प्रयोग करना चाहिए । यह बात बिल्कुल ठीक है । जहाँ 'खाना खाना' से काम चलता हो वहाँ 'भोजन ग्रहण किया' या 'खानाखाने या हजर कर्माया' कहना भूलैला का प्रमाण देता है । परन्तु हमें ऐसे अर्थों के लिए भी शब्द चाहिए जिनका साधारण जनता के जीवन या बोल-चाल में स्थान नहीं है । 'इन्टरनेशनल' 'फाइनेन्शल' 'कल्चर' 'स्ट्रुटेजी' के लिए क्या बोलें ? अब इस सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त निश्चित न हो जाय तब तक हिन्दुस्तानी का कोप किस आधार पर बने ?

उर्दू के कवि ने कमल और अमर को छोड़कर ईरान के गुलाब और बुलबुल की अपनाया, जिसको न उसके देखा और न उसके श्रोताओं ने । जिस भारत में मौखिक खाना कुछ बहुत अच्छी बात नहीं समझी जाती, जो भारत अपने पूर्वजों के पवित्र सोम-रस का पान छोड़ चुका था और सुरा-पान को निन्द्य मानता था, उसके सामने उन्होंने कवाय, शराब और साज़ी का राग अजापा ।

अब स्वतन्त्र भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों को रहना है । भले ही उपासना करते समय एक का मुख पूर्व और दूसरे का मुख पश्चिम की तरफ हो । एक वेद-ग्रन्थ पढ़े तो दूसरा कुरान की आयत; परन्तु दैनिक जीवन में एक का दूसरे से बराबर काम पड़ता है । संगीत, नृत्य-कला, चित्र-कला, स्थापत्य के क्षेत्र में दोनों एक जगह मिलते हैं,

भाषा होगी जो सबके सुख-दुःख, सबकी साहसार्थों और भरमानों को व्यक्त कर सके, जिसके द्वारा शापक, शिष्टक, सेलक, प्रचाक, और आकार सबके पास पहुँच सकें, यह सबके सोचने की वान है। चाण्ड समस्याएँ सुलझा नहीं करती।”

प्रत्येक रूप से उद्' या अप्रत्येक रूप से कृत्रिम असावैजतीन हिन्दुत्वानी के नाम पर हिन्दु का विरोध करने वाले ठक से बहुत दूर है। हैदराबाद की भाषा उद्' इसलिए है कि वहाँ का राजवंश मुस्लिम और फारमीर की भाषा इसलिए उद्' है कि वहाँ की प्रजा में एक संख्या मुसलमानों की है। पंजाब में उद्' इमजिर पढ़ाई जाती थी कि वहाँ पहले ११ प्रतिशत मुसलमान थे और बिहार में उद्' पढ़ाई जानी चाहिए कि अब वहाँ १२ प्रतिशत भी मुसलमान हैं। यह भाषा नहीं, साम्प्रदायिकता का प्ररन है।

हम सबकी इस बात का कठिन अनुभव है कि हमारे किसी भाषण में वहाँ कोई संस्कृत का सरसम शब्द थाया नहीं कि उद्' के हामी उठते हैं, 'साहब, आसान हिन्दुत्वानी बोलिये, हम इस सुवान नहीं समझते।' परन्तु हिन्दी-मेंनी निलड, अरबी-फारसी शब्दों की सर को प्रायः चुपचाप सह लेते हैं। हिन्दुत्वानी नामधारी उद्' शब्दों का द्वेष-भाव कहीं तक जा सकता है, उसका एक उदाहरण है।

अभी थोड़े दिन हुए, भूतपूर्व राष्ट्रपति मौ० अबुलकलाम आज़ाद अयाग विश्वविद्यालय के छात्रों की ओर से एक मान-पत्र दिया। उस पर उद्'-समर्थकों के सुझ-पत्र 'हमारी सुवान' ने एक लंबी मयी टिप्पणी लिखी। उसने उन शब्दों की रेखांकित किया, जो सम्मति में हिन्दुत्वानी में न आने चाहिए। यह कहना अतः है कि वे शब्द संस्कृत से थाये हुए थे। यह बात तो कुछ में थायी है। यह भी कुछ-कुछ समझ में आता है कि इन लोगों

की दृष्टि में धरती और फारसी से निकले हुए मुख्य शब्द सरल और सुशोभ है। पर विचित्र बात यह है कि 'मानवप्र' की अंगरेजी का कोई शब्द भी रेखांकित नहीं है। यह द्वेष-भाव की मर्यादा है। जिस 'हिन्दुस्तानी' में अंगरेजी को स्थान हो, परन्तु संस्कृत के शब्द खोट-खोट का निवाह दिये जाते हों, यह देश की राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती।

मैं चला करता हूँ कि अ० भा० हिन्दा ग्राह्य सम्मेलन, इस दिशा में हमारे मार्ग में जो रुठिनाइयाँ हैं, उन्हें दूर करने में समर्थ होगा। यों तो हम प्रश्न का सम्बन्ध राजनीति से है और हमके सुखमान में राज-पैतिक नेताओं को हाथ बटाना ही होगा। हिन्दी-उर्दू के वाद-विवाद का प्रचलन केन्द्र हमारा ही प्रांत संयुक्त प्रांत है। यदि हम लोग किसी प्रकार अपने प्रांत में सुखसाध कर सकें, किसी प्रकार सुखमानों को यह समझा सकें कि भाषा का प्रश्न साम्प्रदायिक नहीं है, किसी प्रकार उर्दू के प्रेमियों को यह विश्वास दिला सकें कि हमको उर्दू से शत्रुता नहीं, प्रयुक्त हम यह चाहते हैं कि प्रत्येक जो पुस्तक लिखें उनसे अधिक-से-अधिक पढ़ने वाले ज्ञान उठा सकें, हमारे देश की प्रथमा देश के अनेक-अनेक को प्रभावित कर सकें, तो समझता हूँ कि बहुत बड़ा काम होगा।

हिन्दुस्तानी का रहस्य

(डाक्टर मुनीतिकुमार चाटुर्ज्या)

✓ विदेशी लोग इस बात पर हसैंगे कि भारतीयों ने ब्रिटेनी राज्य क तो बहिष्कार कर दिया, पर वे ब्रिटेनी भाषा से चिपके हुए हैं। इन्हें अपने देश की मर्यादा और गौरव के लिए अपनी भारतीय भाषा को ही राष्ट्र-भाषा बनाना चाहिए। हमें विदेशियों के साथ पत्र-व्यवहार भी अपनी ही भाषा में करना चाहिए। सुविधा के लिए हम उसका अनुवाद उनकी भाषा में कराकर भेज सकते हैं। ऐसा करने से हमारी भाषा की महिमा संसार में फैलेगी।

हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा—यह बहुत सुन्दर होता कि हम संस्कृत भाषा को सरल बनाते और उस सरल संस्कृत को ही राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रचलित करते, लेकिन यह सम्भव नहीं है। अस्तु, अब सर्वोत्कृष्ट मार्ग यही है कि संस्कृत शब्दों से युक्त हिन्दी को ही राष्ट्र-भाषा और देवनागरी लिपि को ही राष्ट्र-लिपि बनाया जाय। हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी में आवश्यकतानुसार अरबी और फारसी के उपयुक्त शब्द भी छिपे जा सकते हैं।

उर्दू याज़ारू भाषा है—उहाँ तक उर्दू का प्रश्न है, यह याज़ारू और बनावटी भाषा है और यह दुःखजनक घटना है कि हमारे देश के कुछ लोग केवल १२ प्रतिशत कोइने वालों की भाषा एवं प्रतिशत लोगों पर लादना चाहते हैं।

डाक्टर सुनीलकुमार चाटुब्जा

इस छान्दोजन का वास्तविक रहस्य आपको निम्न पंक्तियों से मालूम होगा। हिन्दी को कुचढ़ने के लिए क्या-क्या पद्यन्त्र हुए, इससे आप भली प्रकार अवगत हो जायेंगे।

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों की तुर्क-विजयों के पश्चात् उत्तरी भारत (पूर्वी पंजाब से लेकर बंगाल तक) की प्रचलित भाषाओं के नामों में से हिन्दी सबसे प्राचीन और सरल नाम है, और इसका प्रयोग इसी पुराने अर्थ और ध्वनि में करता है और जनता में भी तक इस नाम से यही भाव ग्रहण किया जाता है। 'हिन्दुस्तानी' शब्द की और अधिक बोझिली उपज है—शुद्ध फारसी शब्द के अर्थ यह शब्द सुसज्जमानो हिन्दी अर्थात् उर्दू, जिसमें फारसी अरबी शब्दों की भरमार रहती है और देशज हिन्दी तथा संस्कृत यथाशक्ति न्यून और बहिष्कृत रहते हैं, का पर्याय हो गया है। तीव्र भाषाओं के कुछ विद्यार्थियों और कॉलेज तथा अन्य संस्थापक राजनीतिक और सामाजिक कार्यकर्ताओं की और से इस फारसी 'हिन्दुस्तानी' को अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करने का और साहित्यिक हिन्दी (नागरी हिन्दी) और उर्दू दोनों की आधारभूत के अर्थ में प्रयुक्त करने का प्रयत्न हुआ है, परन्तु इन कोशिशों के बावजूद लगभग सब अंग्रेज और अन्य विदेशी लोग ❀ अब भी 'हिन्दुस्तानी' और 'उर्दू' दोनों शब्दों को हिन्दी भाषा की एक ही शैली के अर्थ में प्रयोग का बोधक समझते हैं जो फारसी लिपि में लिखी जाय तो जिसमें अरबी-फारसी शब्दावली प्रयुक्त की जाय।

यद्यपि कॉलेज हिन्दुस्तानी के ठेठ आधार अर्थात् उर्दू बोलो, पर साहित्यिक हिन्दी और उर्दू दोनों की नींव रखी हुई

❀ उदाहरण के लिए बी० बी० सी०, मास्को रेडियो, अल्मा-आटा रेडियो और अन्य विदेशी रेडियो-स्टेशनों को 'हिन्दुस्तानी' ही लिखा जाए, जो शुद्ध उर्दू है—आल इंडिया रेडियो की 'हिन्दुस्तानी' नामधारी अपेक्षाकृत पतली चाशनीवाली उर्दू भी नहीं।

भाषा पर एक नई भाषा या साहित्यिक शैली गढ़ने का विचार इस कथित इरादे के साथ कर रही है कि विदेशी घासी-कासी शब्दों, जिन पर मुमलमान नेता जोर देते हैं और देशज हिन्दी और संस्कृत शब्दों, जिन पर हिन्दुस्तानी-भाषी-श्रेय के तथा श्रेय भारत के हिन्दू जोर देते हैं, के बीच में एक उचित और न्याय-सन्तुलन रसा जाय। परन्तु व्यवहार में यह फारसी-निष्ठ हिन्दुस्तानी बन रही है जिसे गुजराती, बङ्गाली, महाराष्ट्री, उड़िया और दक्षिण के लोग नहीं समझ पाते (परन्तु फिर भी उनसे हिन्दुस्तानी के इस रूप को राष्ट्र-भाषा के रूप में ग्रहण करने के लिए कहा जाता है) ७ और जिसमें बिहार और संयुक्त-प्रान्त, राजपूताना, मध्य-भारत और मध्य-प्रांत की जनता, जो संस्कृत शब्दावली की अभ्यस्त है, धाराम और सुविधा का अनुभव नहीं करती। यह भाषा शायद केवल संयुक्त प्रान्त, बिहार, हिन्दी भाषी मध्य-प्रांत और पञ्जाब के सुशिक्षित मुसलमानों को और परिचयी संयुक्त-प्रान्त तथा पञ्जाब के पढ़े-लिखे सिखों और हिन्दुओं की एक विशिष्ट संख्या को सुविधाजनक जान पड़े।

यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि पूर्वी संयुक्त-प्रान्त, बिहार, नैपाल, बंगाल, आसाम, उड़ीसा, आन्ध्र, तामिलनाडु, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान के लोग हिन्दी-हिन्दुस्तानी के प्रति जो आकर्षण अनुभव करते हैं वह मूलतः दो बातों पर निर्भर है—इसकी देवनागरी लिपि और उसकी संस्कृत-निष्ठ

७ अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के गुजराती, महाराष्ट्री, बङ्गाली, असमी, उड़िया और दक्षिण भारतीय सदस्य प्रायः यह शिकायत करते सुने जाते हैं कि हम पं० बालकृष्ण शर्मा और भी टण्डन जी के हिन्दी-भाषण तो कभी अच्छी तरह समझ लेते हैं, परन्तु पं० नेहरू, मौलाना आज़ाद और आचार्य कृपलानी की 'हिन्दुस्तानी' ठीक-ठीक हमारी समझ में नहीं आती।

शब्दावली। हमें इस बड़ी सच्चाई को कभी नहीं भूलना चाहिए और न यह कभी मुझाई जा सकती है। +

समग्र भू-मण्डल की तीसरी भाषा; चालीस करोड़ मानवों की-
 पिरव की मानव-सन्तान के पंचमांश की- होनहार राष्ट्र-भाषा; अपि-
 प्रोक्त और निषाद-द्रविड-किरात भाषों की मिलित घेष्टा के फल
 स्वरूप हमारी प्राचीन संस्कृति-वाहिनी संस्कृत भाषा से संग्रहित
 प्राच्युक्तिक भारत की प्रतिभू हमारी हिन्दी भाषा; जिसके गले में अरब
 और ईरान के शब्द-भण्डारों से लिये हुए मणि-हार हमने जटकाये हैं,
 और जिसकी शक्ति तथा सौन्दर्य को हमने बढ़ाया है; ऐसी भाषा पर
 हम क्यों न गर्व करें, और इस अनमोल देन के लिए क्यों न हम
 ईश्वर की स्तुति करें। हिन्दी भाषा जोरदार भाषा है, यह सचमुच
 मर्दानगी अथवा या पुरुष की बोली है। हिन्दी को अभिव्यञ्जना-शक्ति
 अपूर्व है।



+ कम-से-कम 'हिन्दुस्तानी' की रट अब क्यों; जब कि भारत
 के वही भाग कांग्रेस की मुट्ठी में से निकल गए जिनसे अपनी
 'राष्ट्र-भाषा' मनवाने के लिए घूस देने के विचार से कांग्रेस,
 विशेष रूप से कांग्रेस के हिन्दू नेता, इतने वर्षों से वास्तविक
 राष्ट्र-भाषा हिन्दी की सुन्नत करके 'हिन्दुस्तानी' बनाने में लगे
 हुए थे ?

अब तक कहा जाता था कि देश में उर्दूभाषी प्रदेश भी हैं,
 राष्ट्र-भाषा 'हिन्दुस्तानी' ऐसी हो जिसे फ्रांटियर के लोग भी समझ
 सकें; अब शायद यह कहा जाय कि सुद की अपेक्षा एक पड़ोसी
 राष्ट्र को अपनी राष्ट्र-भाषा समझना ज्यादा जरूरी है।



इसके सिवा उर्दू लिपि देश की लिपि नहीं और उर्दू भाषा अरबी फारसी के ज्ञान के बिना व्यवहार में नहीं लाई जा सकती ।

अब रह गई हिन्दी और उसकी बहनें । भारतीय भाषाओं में बंगला सबसे उठती मानी जाती है और जब राष्ट्र-भाषा का प्रश्न उठता है तो हमारे बंगाली भाई बंगला की वकालत बड़े उत्साह और उमंग के साथ करते हैं । अन्य आर्य भाषाओं के बोलने वाले पंजाबी, मराठी, गुजराती, उड़िया और आसामिया वाले हिन्दी का ही समर्थन करते हैं । इसलिए हमें बंगला के दावे पर विचार करके ही आगे बढ़ना चाहिए । सारे 'गाल्ल' में बंगला बोलने वाले २ करोड़ हैं और 'विभक्त बंगाल' में फोर्ड २॥ करोड़ । अब हम यदि बंगला को राष्ट्र-भाषा बनाते हैं तो उर्दू की भूति ही उसे २२ करोड़ पर लादते हैं । भाषा के मूलाधार क्रिया, विभक्ति, प्रत्यय, सँ नाम और अन्यय बहुधा उर्दू हिन्दी के एक हैं । पर भाषा की शब्दावली से बंगला अन्य आर्य भाषाओं के समकक्ष ही रहती है । इसलिए बंगला २२ करोड़ अन्य भाषियों पर नहीं लादी जा सकती । इसके सिवा अपने शब्दों के उच्चारण के वैचित्र्य के कारण यह अलिखित हिन्द की भाषा नहीं बन सकती ।

पहले जन-गणना में हिन्दी चार भागों में विभक्त की जाती थी— (१) पश्चिमी हिन्दी, (२) पूर्वी हिन्दी, (३) बिहारी और (४) राजस्थानी; पर आजकल वादिक्रियों—ईपर सुभों में विलक्षण रंग देखा जाता है । पश्चिमी हिन्दी तो है, पर पूर्वी हिन्दी नहीं है । इसी प्रकार बिहारी है, पर राजस्थानी नहीं । पश्चिमी हिन्दी बोलने वालों की संख्या ७ करोड़ बताई गई है । परन्तु यदि अन्य तीनों की संख्या का हिसाब लगाया जाय और हिन्दी के प्रचार पर ध्यान दिया जाय तो पता लगेगा कि उत्तर में कुमायूँ से लेकर दक्षिण में ईदराबाद तक हिन्दी का क्षेत्र है और राजस्थान से लेकर बिहार की सीमा तक उसका विस्तार है । ऐसी अवस्था में हिन्दी-भाषियों—हिन्दी की अपनी

राष्ट्र-भाषा—हिन्दी

भाषा मानने वालों की संख्या १५ करोड़ से कम नहीं है। इस प्रकार हिन्दी चाहे हिन्द की भाषा है और इसलिपि इसका-भाषाप्रसार, विस्तार किसी अन्य भाषा का न होने के कारण वही राष्ट्र-भाषा पद के योग्य है।

संस्कृत लिपियों की धर्म-भाषा है और इन्हीं में उनके सभी धर्म-ग्रन्थ हैं। इसलिपि सारे भारत में लोग धर्म के कारण संस्कृत लिपि से परिचित हैं और यही हिन्दी की भी लिपि है इसलिपि यह राष्ट्र-लिपि होने की अधिकारिणी है। पान्च मुसलमानों के परिधोषार्थ कहा जाता है कि दोनों लिपियाँ सबको मोखनी खादिर्ण। अनुभव से जाना गया है कि त्रिम लिपि व भाषा का व्यवहार किया जाता है वही याद रहती है और अन्वयवहृत लिपि या भाषा भूल जाती है। फिर दोनों लिपियों का दोनों भाषाओं के बिना कोई धर्म नहीं होता और नों भाषाओं को राष्ट्र-भाषा मानने से आठवर्ष में अमामन्दस्य उत्पन्न जायगा। दो भाषाओं की भावना की, जो अभी अकेले संयुक्त प्रांत, सारे भारत में फैला देना न तो बुद्धिमानी है और न उसके कोई ही है। हिन्दी तो चल सकती है, परन्तु उर्दू लिपि और भाषा कभी धर नहीं कर सकती और वे हथ्था पूर्वक उसे सीखेंगे भी क्योंकि उनका कोई तारकालिक कार्य उसके बिना अमिद नहीं है।

जिस दृष्टि से देखिये, हिन्दी के सिवा राष्ट्र-लिपि और राष्ट्र-भाषा की योग्यता किसी भारतीय भाषा में नहीं है। इसके विपरीत से यह कभी सफल नहीं हो सकता।

राष्ट्र-भाषा का प्रश्न

(सम्पादकाचार्य अम्बिका प्रसाद वाजपेयी)

विधान-परिषद् भारत के विधान या शासन-व्यवस्था को अन्तिम रूप देने के लिए उसके मसौदे पर विचार कर रही है। इस समय उसे दो अत्यन्त महत्वपूर्ण विषयों पर अपना अन्तिम निर्णय देना होगा। एक है कि भारत ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल में बना रहे या उससे निकलकर अपने को स्वतन्त्र प्रजातंत्र घोषित करे, और दूसरा यह है कि भारत की राष्ट्र-भाषा क्या होनी चाहिए। ये दोनों प्रश्न ऐसे हैं जिन पर भारत की स्वाधीनता अवलम्बित है। ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल में भारत के बने रहने से वह स्वतन्त्र नहीं रह सकता, राष्ट्र-मण्डल का पुद्गल बन जाता है। संसार के गोरे राष्ट्र जिन दो दलों में बँट गए हैं उन्हीं के पश्चिमी दल में यह रह जाता है और इस प्रकार दूसरे दल से अकारण वेर और वैमनस्य मोख होता है। इसके सिवा ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के कई अंगों की भारत से अलग भी है। इसीलिए भारत को ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल से निकल आने का ही निर्णय करना चाहिए।

दूसरा प्रश्न स्वतन्त्रता के सिवा हमारे स्वाभिमान से भी सम्बन्ध रखता है। हमारे देश में अंग्रेजी भाषा के अनेक परिदृष्ट हैं। इनमें अधिकांश का मत है कि अभी हमारा काम अंग्रेजी से चलता है और यह संसार की बहुत बड़ी भाषा है। प्रायः २०-२०॥ करोड़ लोगों में इसका प्रचार है। यह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी है, इसलिये

राष्ट्र-भाषा मान लेना चाहिए परन्तु ये विद्वान् आकाशदूरी ज्योतिषी की भाँति आकाश पर दृष्टि रखते हैं, पृथ्वी पर क्या है इसका ध्यान नहीं रखते। चंगेज इस देश में डेढ़-दो-तीन वर्षों तक रहे, परन्तु हमारे देश में साक्षरता प्रचार तो उनके किये हुआ ही नहीं, चंगेजी शिक्षा की तो चर्चा ही व्यर्थ है। ३३ करोड़ भारतवासियों में से चंगेजों का ज्ञान कितने करोड़ को है? ऐसी दुर्गमों जिस भाषा की वह ही देश में नहीं है, वह राष्ट्र-भाषा कैसे हो सकती है? इसके विषय दूसरे देश की भाषा को अपनाएने से जैसे ही अप्रतिष्ठा होती है जैसे दूसरे देश के राजा को राजा मान लेने से।

इस कारण हमारी राष्ट्र-भाषा अपने देश की ही कोई भाषा हो सकती है। हमारे देश की आधुनिक भाषाएँ चार्य द्राविड़ भाषों से दो थोकों में बाँटी गई हैं। चार्य भाषाएँ भारत और द्राविड़ चार हैं। भारत चार्य भाषाओं में सिन्धु पाकिस्तान में चले जाने से भारत राष्ट्र में मान ही भाषाएँ रह गयी हैं। ३३ कोटि भारतवासियों में कोई २२-२३ कोटि तो चार्य-भाषा-भाषी और ७-८ कोटि द्राविड़-भाषा-भाषी हैं। हिन्दी में सम्पाजों, मुल्हों, भीजों आदि तथा आसाम की सीमा तथा पहाड़ों पर बने सीरी, तिरमी तथा गारो और जपन्तिया के लोगों की भाषाएँ भी सम्मिलनी चाहिए। इस विवेचन से सिद्ध हुआ कि बहुजन-समाज की भाषा ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है, इसलिए कोई चार्य भाषा ही राष्ट्रभाषा बनानी होगी।

चार्य भाषाओं में हिन्दी ही बहुजनसमाज की भाषा है, क्योंकि इसके बोलने वालों और समझने वालों की संख्या लगभग २० करोड़ के पर्युक्त जानी है। हिन्दी सम्पदेश की भाषा है, इसलिए हमकी सीमाओं पर जो अन्य भाषा-भाषी रहते हैं वे भी हिन्दी यदि बोल सके तो समझ तो आकर रह सकते हैं। ऐसी अवस्था में हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा वह ही अधिकारिणी है। हिन्दी के साथ ही और हमारे 'सम्मिलनी-सुझनी' एक दूसरी भाषा भी है जिसका नाम 'उर्दू' है। परन्तु

एक तो हिन्दी के समान इसका विस्तार नहीं है और दूसरे इसका रंग-रूप भारतीय नहीं है। उर्दू बोलने और पढ़ने-लिखने वालों की संख्या यदि बहुत बढ़ाकर भी गतायं, तो दिल्ली से लेकर इलाहाबाद तक ही रह जाये है। परन्तु इस क्षेत्र के सभी लोग उर्दू नहीं समझते। इसलिए उर्दू वालों की संख्या डेढ़-दो करोड़ से अधिक नहीं हो सकती।

मुसलमान उर्दू की अपनी भाषा कहते हैं। यदि सचमुच उर्दू मुसलमानों की भाषा हो तो युक्तप्रदेश में, जो उर्दू का गढ़ है, मुसलमानों की संख्या प्रतिशत १५ से अधिक नहीं है। दिल्ली और उसके आस-पास भी मुसलमानों की बस्ती है। परन्तु गाँवों में रहने वाले मुसलमानों की भाषा उर्दू नहीं है। वे तो हिन्दुओं की तरह गाँवों की बोलियाँ ही बोलते हैं। लिखना-पढ़ना जो जानते हैं, वे उर्दू अच्छे-बुरे ही लिख-पढ़ लेते हों, परन्तु भाषा का साहित्य नहीं समझ सकते। बिहार में मुसलमानों की संख्या ६ प्रतिशत है तथा मद्रासीयन में तो २ भी नहीं है। हम यह मानते हैं कि दिल्ली और युक्तप्रदेश के पश्चिमी जिलों में कुछ हिन्दू भी उर्दू साहित्य के ज्ञाता और पाखी हैं जिनमें सर तेजबहादुर सप्रू तथा पुराने काश्मीरी साक्षरों और कावस्थों की गिनती होती है। यद्यपि इधर उर्दू का प्रचार देश में बहुत घट गया है और सर तेजबहादुर आदि के परिवारों में भी हिन्दी का साम्राज्य स्थापित हो चुका है, तथापि उर्दू भाषा भी एक भाषा है। पर यह इतनी छोटी है कि राष्ट्र-भाषा हो नहीं सकती। उसकी जड़ तो स्वदेशी है, क्योंकि हिन्दी को विभक्ति, प्रत्यय, क्रियापद, अधिकार-अभ्यय और सर्वनाम तथा संज्ञा उसका भूजागर है, तथापि इस प्रकारकी और चरबी की इमारत उठाई गई है। अक्षर भी स्वदेशी नहीं है। इसलिए यह व्यवहार में विदेशी है।

आज तो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में प्रायः ४३ करोड़ मनुष्यों का वास है, पर १९०३ में शाहजहाँ भारत-भरत में ३२ करोड़ लोग भरे थे। उस समय पादरी प्यरिंगटन ने, जिनका 'भाषा-भास्कर' नामक

व्याकरण प्रसिद्ध है, अपने 'स्ट्रुट्ट्स ग्रामर' आठवीं हिन्दी संस्करण की भूमिका में लिखा था—

“हिन्दी सम्भवतः ढाई करोड़ भारतवासियों से कम की मातृ-भाषा नहीं है। यह परिचमोत्तर प्रदेश, पंजाब, राजपूताने के बड़े भाग, मध्य-भारत और बिहार-भर में बोली जाती है, और जिस रूप में इसका प्रयोग बनारस में होता है उससे बड़े सिखों, गुजरातियों, मराठों और नेपालियों तथा और जातियों की समझ में रूढ़ आ जाती है, जिनकी अपनी अलग बोलियाँ हैं। तब चाहे उस भू-भाग के विस्तार का विचार करें जिसमें वह बोली जाती है अथवा उसके बोलने वालों की संख्या और जातियों के महत्त्व का विचार करें। कुछ भी हो, हिन्दी उत्तर भारत की भाषा मानी जा सकती है।”

“ऐसा ही दावा मुसलमानों की भाषा उर्दू के लिए भी किया जाता है, जो अपेक्षाकृत छोटा समुदाय है। परन्तु यद्यपि उत्तर भारत के शहरों और बहुत-से बड़े कस्बों में दूसरी भाषा के रूप में बहुतेरे लिखित हिन्दू भी उसे बोलते हैं, तथापि उर्दू का प्राधान्य भारत के किसी प्रदेश पर नहीं है, और अथवा ऐसी है कि मुसलमानों के सिवा वह किसी धर्म के लोगों की भाषा नहीं हो सकती।”

डाई करोड़ हिन्दी-भाषियों की संख्या बताकर नीचे लिखी में लेखक ने लिखा है:—“बात को बढ़ाकर न कहने की इच्छा से यह लिखा या था; परन्तु हाथ की निरवसनीय जानकारी से मेरी प्रवृत्ति बह विचारने की होती है कि भारत की हिन्दी-भाषी जन-संख्या २ करोड़ से कम नहीं हो सकती। निरर्थक ही सब सांस्कृतिक भाषाओं से हिन्दी एक विस्तृत भाग में बोलनी जाती है।”

उनके राष्ट्रभाषा १९ के दाने को पादरी डब्ल्यू० एचिंगटन ने ३१ वर्ष पहले ही स्मरित कर दिया था। वह यह समझ था, हिन्दू धर्मके सूत्रों में कुछ आधी-आधी पदा करने से और भाषा-शास्त्रिकों के शोभ में ही गणेशाय नमः के बद्धे विगमिच्छाद

उर्दू-होम उर्दू-होम कहकर बच्चों को अक्षरारम्भ कराते थे । उस समय हिन्दी को राज्याध्यय तो था ही नहीं, वह तिरस्कृत अवस्था में दिन कर रही थी । परन्तु उसका महत्व जब उस समय था तब तो आज के मद्रास में भी पहुँचकर वह लाखों स्त्री-पुरुषों और बच्चों की राष्ट्र-भाषा बन चुकी है, तब उर्दू का उसकी जगह लेने का प्रयास अनपिष्ट श्रेष्ठा के सिवा कुछ नहीं है । उर्दू में साहित्य है और उसे उन्नत करने में निजाम आदि सुपुत्रमान नवाबों का बड़ा हाथ रहा है । उसका सम्बन्ध अरबी फारसी से रहने के कारण देश उसे कैसे राष्ट्र-भाषा बना सकता है ? उर्दू की लिपि का सम्बन्ध फारसी से है, भारत किसी भाषा से नहीं । इसका सीखना तो सहज है ही नहीं, पर इन्हें शब्दों का वर्ण-विन्यास व हिज्जे करना कठिन है । हिन्दुस्तानी सौदा-मुद्रक के सिवा किसी काम नहीं आ सकती । उर्दू के खोजक हाथ में उर्दू बन जायगी और हिन्दी-लेखक के हाथ में हिन्दी जायगी ।

उर्दू के बाद राष्ट्र-भाषा पद का एक भारतीय भाषा भी दाव करती है जो अव्यंभाषा ही है । यह बंगला है । बंगालियों में अव्यंभाषा का ही नहीं, अपने बंगालीपन का भी बड़ा अभिमान है । कर्तव्य-रवीन्द्रनाथ को नोबेल् प्रशस्ति पया मिला, बंगला भाषा के अव्यंभाषा अभिमान की जमीन पर पैर ही नहीं रखते । वे कहते हैं कि बंगला भारतीय भाषाओं से उन्नत है, इसलिए वही राष्ट्र-भाषा होनी चाहिए । बंगला के मुकाबले में हिन्दी कुछ नहीं है, इसलिए वह राष्ट्र-भाषा काम नहीं कर सकती । परन्तु यदि विधान-परिषद् इतनी जड़ जाय कि यह हिन्दी को ही राष्ट्र-भाषा बनाना निश्चय कर ले, तो बंगला को भी राष्ट्र-भाषा बना लेना चाहिए । ऐसा करना कुछ अचित नहीं है, क्योंकि स्वीजरलैंड और रूस में एकधिक भाषाएँ राष्ट्र-भाषा ही रही हैं ।

बंगला को राष्ट्र-भाषा बनाने के उद्योगियों का दिमाग इतना ख

गया है कि ये वहाँ तक बढ़ गए हैं कि उनके ज्यनि में
 आता कि उनके पूर्वजों ने बंगला को हम योग्य कभी नहीं उर-
 या। राजा राममोहनराय ने जब १८२१ में 'बंगदूत' निकाला था,
 भी हिन्दी का दर्जा क्या था। यह आतङ्क के बंगालियों की तरह
 ही थे, जो हिन्दी न जानने पर भी उसमें राष्ट्र-भाषा के गुण नहीं
 लेते। यह हिन्दी, बंगला और फारसी के ज्ञाता थे। इसलिए तीनों
 भाषाओं में 'बंगदूत' निकाला था। सुयत्नमानी अमलदारी खत्म हो
 जाने पर भी फारसी उन दिनों बड़ी काम करती थी, जो आज खत्म हो
 जाती है। बंगला ही बंगाल की भाषा थी, इसलिए रबी गढ़ू-धी
 हिन्दी ने भारत के बड़े भाग की भाषा होने के कारण ही उसमें स्वा-
 पाया था।

बालू बंकिमचन्द्र चटर्जी, जिनके 'बन्देमातरम्' गीत को राष्ट्र-गीत
 बनाने के लिए बंगाली सज्जन आग्रह कर रहे हैं, मधुसूक्त अर्थात्
 क्योंकि भविष्य-द्रष्टा थे और 'अग्निदर्शनम्' से दर्शन करने या देख
 वाला ही अर्थात् कहाना है। उन्होंने ७१ वर्ष पहले अपने 'बंग-दर्शन'
 के २ वें खण्ड में बंगला सन् १२८४ में लिखा था :—

"हिन्दी भाषा साहाय्ये भारतवर्षे विभिन्न प्रदेशे मध्ये याद
 ऐक्य बन्धन स्थापित करिते पारिवेन ताद्वाराई प्रकृत भारतवन्धुः
 अभिहित-दृष्टार योग्य। सकले चेष्टा करून-यत्न करून यत दिन।
 हउक, मनोरथ पूर्ण हउये। हिन्दी भाषाये पुस्तक धो धकृता।
 भारतेर अधिवाश स्थाने मंगल-साधना करिवेन—केवल बाड
 ईराजी चर्चाय हउयेना। भारतेर अधिवासीर संख्यार सहित तुजना
 करिये बांगलाओ ईराजी कलेजन लोक बलिसे धो प्रकिते पारेन।
 बांगलाय न्याय हिन्दिर उन्नति हउतेये ना हउार देशेर दुर्मायेर
 -विषय।"

अर्थात्, "हिन्दी भाषा की सहायता से भारतवर्ष के विभिन्न
 प्रदेशों में जो लोग ऐक्य-बन्धन स्थापित कर सकेंगे वे ही प्रकृत भारत

श्री अम्बिकाप्रसाद याज्ञपेयी

बन्धु कहाने योग्य है। वेष्टा कीजिए, परम कीजिए, कितने ही क्यों न हो मनोपथ पूर्ण होगा। हिन्दी भाषा में पुस्तक और वचन द्वारा भारत के अधिकांश स्थानों का मंगल-साधन कीजिए—वे बंगला और अंग्रेजी की चर्चा से काम न चलेगा। भारत के अधिकांसियों की तुलना करने पर बंगला और अंग्रेजी कितने लोग और समझ सकते हैं? बंगला ही भौतिक हिन्दी की उन्नति नहीं। वे देश के दुर्भाग्य की बात है ?

आज से ४० वर्ष पहले भी बंगाली संपादकों में बंगला के परम अभिमानियों की-सा संकीर्ण प्रादेशिकता नहीं थी। उस समय सुरेशचन्द्र समाजपति 'वसुमति' के और पं० ब्रह्मचान्धव उपाध्याय 'सन्ध्या' के संपादक थे। श्री अरविन्द घोष 'कर्मजोगिन' और के संपादक थे। इन एशों में हिन्दी को राष्ट्र-भाषा की योग्यता समर्थन किया गया था। पीछे 'तापध' आदि और कई एशों में हुआ। क्रांतिकारी दल के बंगाली युवक हिन्दी सीखने का यत्न थे। अवरथ ही उस समय कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ को नोबेल प्राइज मिला था और बंगला का जो महत्व आज बंगला के अभिमानियों समझ में आया है वह पहले किसी बंगाली विद्वान् की समझ में आया था। बाबू भूदेव मुकर्जी ने बिहार में हिन्दी-प्रचार कार्य से अग्र प्रारंभ किया था उसकी कहानियाँ आज भी सुनी जाती हैं। श्री डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या जैसे विद्वान् हिन्दी का राष्ट्र-भाषा स्वीकार करने हैं। पश्चिम बंगाल के वर्तमान शिक्षा-मंत्री बंगाली हिन्दी सीखने की आवश्यकता का अनुभव करते हैं।

भारत-संघ में जो 'गाढ़ है उसमें दो करीद की बस्ती भी है और 'गाली भाई चाहते हैं कि बंगला भाषा ही यदि भारत राष्ट्र-भाषा न बनाई जाय तो कम-से-कम यह भी एक राष्ट्र-भाषा तो ही दी जाय, क्योंकि यह भाषा सब भारतीय भाषाओं से थोड़ा परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि बंगला भाषा में बड़ी विभिन्नता

भाषा, यहाँ हिन्दी से ही काम निकालना पड़ता है। ऐसी
 का महत्त्व घटाने और बंगला का बढ़ाने का मन करना
 । डॉ० सुनीलकुमार चाटुर्जी ने तो चीन में दो चीनियों
 हिन्दी के सहारे ही तय किया था।

महिमा के विषय में इतना ही बताना बहुत है कि यह
 भाषा और इसकी लिपि संस्कृत लिपि होने के कारण
 प्रचलित है। मन्व्य देश भारत का हृदय है। यहाँ गंगा-
 यमुना नदियाँ हैं। गया जैसा तीर्थ-क्षेत्र है जहाँ पिण्ड-दान
 करने से अपने कितनों का उद्धार करते हैं। सात मोक्ष-दायी
 नदियाँ इस भू-भाग में ही हैं। शारिका यद्यपि गुजरात में है
 परन्तु हिन्दी का बोल-बाला है। काँची की भाषा तामिळ है सही
 परन्तु गंगा के शिफा-मंत्री श्री हरेन्द्रनाथ मुकुर्जी का कहना है
 कि हिन्दी से काम चल जाता है। चारों धामों की यात्रा
 ही मनुष्य कर सकता है। द्वादश ज्योतिर्लिंगों में ७
 ही हैं। जो लोग इन स्थानों की यात्रा करते हैं, उनकी
 सारी, हिन्दी के द्वारा काम चलाते हैं। इस प्रकार हिन्दी
 ही बनी है।

भाषाओं से भाषाओं की भिन्नता भाषा-शास्त्री बताने
 का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा है और दक्षिण में संस्कृत
 उत्तर की अपेक्षा अधिक ही है। हिन्दी बंगला की भाँति
 का बोझ नहीं पीसती, पर जब उसे राष्ट्र-भाषा का उच्च
 दर्जा दिया गया तब उसकी सब प्रतियाँ दूर हो जायँगी।



भारत की राष्ट्र-भाषा और लिपि

(महापण्डित राहुल सांकृत्यायन)

हमारा देश अब बह नहीं रहा, जो सदियों से बला भा रहा था। जिस एक भाषा का हिन्दी-भारत-भारी भारत परतन्त्र हुआ उस एक हमारा हिन्दी का वह रूप गुजरात, कन्नौड़, पटना में बोला और लिखा जाता था, जो सातवीं सदी में आरम्भ हुआ था और जिसके अमर-शैलक सरह, स्वयम्भू, सुष्यरुज एवं हरिमल आदि थे। भाषा हमारी ही जैसी थी, किन्तु वह तद्भव का रूप था। उस समय के बाद हमारी भाषा दासों की भाषा समझी गई। फारसी ने दरबारों और कचहरियों में अपना स्थान जमाया। धीरे-धीरे हिन्दी उस दब-लीय दशा पर पहुँची, जब कि उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में अकबरशाह जी ने 'द्वैत सागर' लिखा। फिर उन्नीसवीं सदी के अन्त में भारतेन्दु और उनके साथियों ने हिन्दी को अपना स्थान दिखाने के लिए भाषा स्वयंसेवक किया। स्वर्गीय गोविन्द आराधक मिश्र, श्रीनारायण श्रीधरी 'द्वैतपत्र', रामाचलार ठरुमा, महाश्वर प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक आदि कितने तपस्वी और मुनि जो स्वयं देखते चले गए, वह भाषा पूरा हुआ। आज फिर अपने प्राचीनतम रूप अर्थात् हिन्दी का भौति हमारी हिन्दी स्वतन्त्र भारत को सम्भावनीय भाषा का प्राप्ति कर रही है। साथ ही सदियों का अन्तर है। इतने दिनों में

अन्तर्धान के बाद हिन्दी-सारस्वती पुनः बड़े वेग से घपने स्थान पर प्रकट हुई है और आज उसका दायित्व और कार्य-क्षेत्र बारहवीं सदी से कहीं अधिक है। यद्यपि दरबारों में उस वक्त भी उसका सम्मान था, कितने कागज-पत्र भी लिखे जाते थे, तो भी अभी सबसे ऊँचा स्थान मानु-भाषा को नहीं, बल्कि संस्कृत को प्राप्त था। संस्कृत का कवि तो 'ताम्बूलद्रुपमासनन्व जमते' और ताग्र-शापनों में ही संस्कृत का होता था। आज हमारे हिन्दी-भाषा-भाषी प्रांतों में हिन्दी के सर्वा होने में कोई बाधा नहीं डाल सकता। उसे हिन्दी-प्रांतों न्यायालयों, पार्लियमेंटों और सरकारी शासन-यंत्रों की ही भाषा बनना है, बल्कि आज के विकसित विज्ञान की हर एक शाखा अध्ययन का माध्यम भी बनना है। यह बहुत भारी काम है; और मुझे विश्वास है कि हमारी हिन्दी उसे सहज बहन करेगी।

आज फिर भारत एक संघ में बदल रहा है। हमारे भारत-की कोई एक भाषा भी होनी आवश्यक है। संघ-भाषा के बारे में कुछो-से खोग घपने स्थानिक विचार और कठिनाइयों को लेकर वादा-वादना-चाहने है। हम पूछेंगे कि जब संघ के काम के लिए भाषा खोजी जाने वाली सभी भाषाओं को खेना सम्भव नहीं तब किसी भाषा को हमें सर्वकार करना ही होगा।

कारणों करने की बात नहीं है, यदि सब भी कुछ दिमाग व लोचने का बह नहीं उठाने और सब भी संघे ही भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाने का प्रयत्न करने है। यह भी राजनीति के अविचार व अचरहे है। हमोंने संघे ही खोज किसी भारतीय भाषा पर अधिकारी नहीं बाधा, सरा मादको दाद में रहे और कभी लबाब भी नहीं भिच कि देश की जनता भी किसी भाषा से सम्बन्ध रखती है और उसका मादिक, कहीं तक राष्ट्र मादिक का सम्बन्ध है, विचार की किसी भाषा से खोजे नहीं है।

बनाने की कोशिश नहीं करेगा। यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि हमारे रेडियो अब भी अंग्रेज़ी के अधिक प्रसार का साधन बन रहे हैं। उन्हें अँग्रेज़ और रूसी रेडियो के प्रोग्रामों को देखना चाहिए कि वहाँ कितने प्रतिशत मिनट प्रोग्राम अँग्रेज़ी में चलते हैं।

सवाल है—हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं और दोनों लिपियों को भी क्यों न सारे सब की राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि मान लिया जाय ? पूछना है : अपनी मातृ-भाषा और उसके साहित्य के पढ़ने के साथ-साथ क्या दूसरी भाषा का बोल उपादा, ज्ञान, व्यवहार और बुद्धिमानी की बात है ? संघ की राष्ट्र-भाषा सिर्फ एक होनी चाहिए। स्वांजरलैण्ड की तीन भाषाओं का दृष्टांत हमारे यहाँ लागू ही सकता था, यदि हमारा देश एक तहसील या जिल्ले के बराबर होता। हमारे यहाँ जो उदाहरण लागू हो सकता है वह है सोवियत-संघ का, जहाँ ६६ भाषाएँ बोली व लिखी जाती हैं। द्वादश भाषाओं में तो अब भी ६०-६० प्रतिशत तक संस्कृत शब्द मिलते हैं—वही संस्कृत शब्द जो उर्दू भाषाओं में हैं, किन्तु सोवियत की मंगोल व तुर्क सम्बन्ध की पचासों भाषाओं का रूसी भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं। तो भी वहाँ के लोगों ने संघ की एक भाषा मानते वक्त रूसी को वही स्थान दिया, क्योंकि वह दो-तिहाई जनता की अपनी भाषा थी और देश में भी बहुत दूर तक प्रचलित थी। हिन्दी का भी वही स्थान है। इसलिए एक भाषा रखते वक्त हमें हिन्दी को ही देना होगा। हिन्दी-भाषा-भाषी बहुत मारी प्रदेश तक फैले हुए हैं। इतना ही नहीं, बरिफ़ आसामी, बंगाल, उड़ीसा, मराठी, गुजराती, पंजाबी, येही भाषाएँ हैं जो हिन्दी जानने वालों के लिए समझने में बहुत आसान हो जाती हैं, उनका एक-दूसरे का बहुत निकट का सम्बन्ध है जैसे उड़ीसा नहीं पढ़ी थी और न उसे सुनने का पैसा भी था मिल जा। लेकिन सब वर्ष कटक में मैं एक नाटक देखने गया। मैं इतना

संवाद को मैं ८० मैकडा समझ गया, और उदियः भाषा ने अपने मौन्दर्य में मुझे बहुत आहृष्ट किया। मैंने यात्रा, दर्राँन और राजनीति के सम्बन्ध में गुजराती, मराठी, उदियः, बंगला-भाषा-भाषियों के सामने कितनी ही बार व्याख्यान दिये हैं और भारी संख्या में उनके सावधानतापूर्वक सुनने से सिद्ध था कि वे हिन्दी समझ लेते हैं। हाँ, यहाँ इस बात का जरूर ध्यान रखना पड़ता था कि हिन्दी में जब-तब घाने वाले अरबी-फारसी शब्दों की जगह तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया जाय। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि अरबी-फारसी। छद्दी उर्दू भाषा को भारत के दूसरे प्रांतों पर लादा नहीं जा सकता और लिपि ? उर्दू लिपि, जो कि वस्तुतः अरबी लिपि है, इतने अपूर्ण लिपि है कि उसे शुद्ध बहुवचने इस्लामी देशों से देश-निकास दिया जा चुका है। उसको लादने का ख्याल हमारे दिल में घान नहीं चाहिए।

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा होने के लिए जब कहा जाता है तो कहीं-कहीं से आवाज निकलती है—हिन्दी वाले सारे भारत पर हिन्दी का साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं। यह उनका गूढा प्रचार है और यह हिन्दो भिन्न-भाषा-भाषियों के मन में यह भय पैदा करना चाहते हैं कि हिन्दी के संघ-भाषा बनने पर उनकी भाषा का साहित्य और अस्तित्व मिट जायगा। यह विचार सर्वथा निर्मूल है। अपने चंद्र में वहाँ की भाषा ही सर्वो-सर्वा होगी। बंगाल में प्रारम्भिक स्कूलों व यूनिवर्सिटी तक, गाँव की पंचायतों से प्रांत की पार्लियेमेंट और हाईकोर्ट तक सभी जगह बंगला का अच्युत्य राज्य रहेगा। इसी तरह उड़ीसा, आंध्र, तामिलनाड, केरल, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब और आसाम में भी वहाँ की भाषाओं का साहित्यिक और राजनैतिक दोनों क्षेत्रों में निरबाध राज्य रहेगा। हिन्दी का काम तो वहाँ ही परेगा, वहाँ

क जगह अधिकारिक मिलेंगे तो उनके आपसी व्यवहार के लिए कोई क भाषा होनी चाडिए ।

✓ इतिहास हमें बतलाता है कि ऐसी भाषा, भारत में जब-जब राज-
तिक एकता या अनेकता भी रही, तब-तब मानी गई । अशोक के
एलाखेसों की भाषा मैसूर, गिरनार, जौगड़ (उड़ीसा) और काबली
(देहरादून) इसका प्रथम प्रमाण है । फिर संस्कृत ने माध्यम का स्थान
लेया, यद्यपि इसमें संदेह है कि यह कचहरियों और दरबारों की बहु-
चलित भाषा न थी । अपभ्रंशकाल (७-१३ वीं सदी) में हम
यासाम से मुल्तान, गुजरात-महाराष्ट्र से उड़ीसा तक अपभ्रंश भाषा
कवियों की कविता करते पाते हैं । उनमें कितने ही दरबारी कवि हैं ।
इस अपभ्रंश भाषा में इन सारे प्रदेशों की भाषा का बीज मौजूद है,
परन्तु उनकी शिष्ट-भाषा अवध और ब्रज के बीच की भूमि-पंचाल-
ही भाषा थी, जिसका मुख्य नगर कन्नौज मौसुरियों के समय से राहद-
वारों के समय (६-१२ वीं सदी) तक उत्तरी भारत का सबसे बड़ा
राजनैतिक और सांस्कृतिक केन्द्र रहा । इस तरह अपभ्रंश उस समय
सारे भारत में बड़ी काम कर रही थी, जो गैरसरकारी तौर से आज तक
और सरकारी तौर से आगे हिन्दी को सारे भारत में करना है ।

हिन्दी को हिन्द-संघ के ऊपर राष्ट्र-भाषा के तौर पर आदने का
सवाल नहीं है । यह तो एक व्यवहार की बात है । मुसलमानी शासन-
काल में भी कितनी ही हमारी अन्तर्प्रान्तीय साधु-संस्थाएँ रही और
वे आज तक चली जा रही हैं । उन्हीं को देखिए, किस भाषा को उन्होंने
सुव्यवहार्य समझ कर अपना भाषण और लिखा-पढ़ी के लिए स्वीकार
किया ? खंयासियों या बैरगियों के अलावे और स्थान जाकर देखिए
यह समुद्र की तरह है, जहाँ सचमुच ही सैकड़ों नदियाँ जाकर मिलती
हैं और नाम रूप विहाय समुद्र बन जाती हैं । इन अलावों की बढ़ी-
बढ़ी जमाओं बजती हैं, और कुम्भ के मेलों के वक्त तो उनकी संख्या
जालों तक पहुँच जाती है । वहाँ जाकर पठा जगाइये कि मातावारी,

तेलंगु, नेपाली, बंगाली, पंजाबी और सिंधी सायु-संन्यासी किम भ
 में आपस में बातचीत करते हैं ? हिन्दी में और निरुद्ध हिन्दी में । इ
 गाँधी जी के दक्षिण हिन्दी-भाषा-प्रचार से कोई सम्बन्ध नहीं है
 हमारी आज की हिन्दी संस्थाओं से सदियों पहले से यह काम हो
 है । अखाड़ों में रही अब भी आपको दो-दो सौ वर्ष की और
 पुरानी भी बहियाँ और चिट्ठियाँ इस बात का सबूत देंगी । इ
 अखाड़ों के एक प्रतिनिधि अनिकेचनगिरि ने १८६६ सम्वत् (१८
 ई०) में सोवियत के शकृ नगर के पास ज्वाला जी के मन्दिर
 शिलालेख खुदवा कर लगाया "॥६०॥ श्री श्री गणेशाय नमः ॥रव
 स्वस्ति श्री नरपति विक्रमादित्य राज साके ॥ श्री ज्वालाजी निमत
 वाज्य बणयाः अनिकेचनगिरि संन्यासी रामदहावामी कोटेश्वर मह
 का ॥...अमौज वदी ८ सम्वत् १८६६ ॥"

अस्तु, इससे यह तो साफ है कि जब-जब व्यवहार की बात
 तब-तब हिन्दी ही सारे भारत की अंतर्प्रान्तीय भाषा स्वीकार की
 यदि हम पुराने तजखते को नहीं मानते हैं तो चाहे तो फिर तजखते
 हैं । हिन्द-भाषा-भाषियों को अलग रखकर पंजाबी, आसामी, बंगाली,
 उड़िया, आन्ध्र, तमिल, केरल, कर्नाटकी, मराठी, गुजराती लोगों को
 ही व्यवहार से इसके बारे में फैसला करने के लिए छोड़ दें । मैं सम-
 झता हूँ, यदि वे सारे भारत की एकता के पक्षपाती हैं तो उनका तज-
 खता भी हिन्दी ही के पक्ष का समर्पण करेगा ।

✓ राष्ट्र-भाषा हिन्दी स्वीकार करने पर भी कोई-कोई माई रोमन लिपि
 स्वीकार करने के लिए कह रहे हैं । क्या वह अधिक वैज्ञानिक है ?
 वैज्ञानिक का मतलब है—लिपि से उच्चारण से अधिक अनुकूल होगा—
 लेकिन रोमन लिपि के २६ अक्षर हमारे सारे उच्चारणों को प्रकट नहीं
 कर सकते । भागी अक्षरों में हम सबसे ज्यादा श्रुत रूप से किसी भी
 भाषा को लिख सकते हैं और बिना चिह्न दिये । चिह्न देने पर रोमन
 में लिखने पैदा हो जाते हैं, हमने कम ही लिपियों को बनाकर भागी

रा हम दुनिया की हर भाषा के शब्दों को उच्चारणानुसार लिखते हैं। इसलिए जहाँ तक उच्चारण का सम्बन्ध है, हमारी मातृ-दुनिया की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है।

रहा सवाल प्रेस और टाइपराइटर का, तो उसमें कुछ मातृ-भाषा की आवश्यकता अवश्य है, और यह सुधार संयुक्त-अक्षरों के टाइपों के हटाने, मात्राओं को 'अ' के ऊपर लगाने तथा दूसरे अक्षरों के टाइप करने के शरीर को अपने शरीर तक समेट कर किया जा सकता है। इससे हिन्दी टाइप की संख्या ४८२ की जगह १०४ जायगी। अंग्रेजी में १४० टाइपों का फॉन्ट होता है। अंग्रेजी की तरह छोटे-बड़े अक्षरों का अनावश्यक बोझ हमारी लिपि पर न होने टाइपराइटर में और सुविधा है, और अंग्रेजी टाइपराइटर के बोझ की सारे टाइप खग जाते हैं।

इस प्रकार सारे संघ की राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि हिन्दी ही होनी चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि उर्दू पढ़ने वालों के लिए सुविधा न दी जाय। हर एक को अपनी भाषा और अपनी लिपि पढ़ने का अधिकार होना चाहिए। जो उर्दू भाषा-भाषी अपनी शिक्षा उर्दू भाषा द्वारा लेना चाहते हैं, उन्हें इसके लिए पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। वे स्कूलों ही में नहीं, चाहें तो अलोगद यूनीवर्सिटी में उर्दू की माध्यम रख सकते हैं। लेकिन जो समय सामने आ रहा है, उसे खते हुए मैं उन्हें परामर्श दूँगा कि लिपि के अप्रद को छोड़कर उर्दू के लिए भी वे नागरी लिपि को अपनायें। अस्तित्व परियोजना के ताजिक और तुर्की भाषाओं को अरबी लिपि से सम्बन्ध-वेच्छेद कर लेने पर हानि नहीं, बल्कि बहुत भारी लाभ हुआ है। रोमियत की वे भाषाएँ स्वी लिपि में लिखी जाती हैं, जो ३२ अक्षरों की होने से रोमन से कहीं अधिक वैज्ञानिक है।

कोई-कोई उर्दू वाले कहने लगे हैं कि क्यों न रोमन लिपि को अपनाया जाय ? यदि हिन्दी (मातृ) लिपि अरबी लिपि की तरह :

ए होती तो हमें रोमन लिपि अपनाने में कोई उजर न होत
रोमन पक्ष-पाती उर्दू वाले भाइयों को नागरी जैसी लिपि
ने में आनाकानी क्यों ? सिर्फ़ इसलिफ़ कि अगर अरबी लि
है तो साथ साथ हिन्दी लिपि का भी वेदा गरू हो ।

मनका भारतीयता के प्रति यह विद्रोह सदियों से चला आया
किन्तु नवीन भारत में कोई भी धर्म भारतीयता को पूरुत
र किये बिना फल-फूल नहीं सकता । ईसाइयों, पारसियों अ
की भारतीयता से एतराज नहीं, फिर इस्लाम ही को क्यों,
की आरम-रफा के लिफ़ भी आवरयक है कि वह उसी तर
मान की सम्यता, साहित्य, इतिहास, वेश-भूषा मनोभाव के सा
ता करे, जैसे उसने तुर्की, ईरान और सोवियत मध्य एशिया में
थों में किया । धर्म को समाज के हर क्षेत्र में घुसेड़ना आज वे
में वर्दरत नहीं किया जा सकता । अभी हमारे राष्ट्रीय मुसल
आई भी नहीं समझ पाये कि उनकी मन्तानों को नव भारत
तक जाना है । नवीन भारत ऐसे मुसलमानों को चाहेगा, जो
मं के पक्के हों, किन्तु साथ ही उनकी भाषा वेश-भूषा, धौर
न में दूसरे भारतीयों से कोई अन्तर न हो; भारत के गौरवपूर्ण
के प्रति आदर रखने में वे दूसरे से पीछे न हों । भारतीय संघ
मानों की भी आज की तीसरी पीढ़ी में हिंदी के अच्छे-अच्छे
। लेखक उन्ही परिमाण में होंगे, जिस परिमाण में वे आज
हैं । वह समय भी नजदीक आयगा, जब कि हिन्दी-साहित्य-
का सम्भारति कोई हिन्दी का पुरंधर साहित्यकार मुसलमान
वाशिर पाकिस्तान के आधे से अधिक हिस्से में अरबी लिपि
ति-निमित्त भाषा न होने से पूर्वी ब्रजाज में इस्लाम को सतरा
केर हिन्दी से उन्हें क्यों सतरा मालूम होगा है ?

संघ की राष्ट्र-भाषा के अतिरिक्त हिन्दी का अपना विशाल
इतिहास, राजताना, मैवाड़, माजरा, मध्य प्रदेश, मुजप्रान्ध

और बिहार हिन्दी की अपनी भूमि है। यही वह भूमि है, जिसने हिन्दी के आदिम कवियों सरह, स्वयम्भू आदि को जन्म दिया। यही भूमि है, जहाँ भरवबोध, कालिदास, भवभूति और बाण पैदा हुए। यही वह भूमि है, जहाँ (मेरठ-अम्बाला कमिश्नरियों) पंचाल (भागरा-रहेलखण्ड कमिश्नरियों) की भूमि में बशिष्ठ, विरवामिश्र, भारद्वाज ने ऋग्वेद के मन्त्र रचे और प्रवाहण, उद्दालक और याज्ञवल्क्य ने अपनी दार्शनिक उदानें कीं। इस भूमि के सारे भाग की हिन्दी मातृ-भाषा नहीं है, किन्तु वह है मातृ-भाषा जैसी ही। इस विशाल प्रदेश के हर एक भाग में शिचित, अ-शिचित, नागरिक और ग्रामीण सभी हिन्दी को समझते हैं। इसलिए यहाँ हिन्दी का राज-भाषा के तौर पर, शिक्षा के माध्यम के तौर पर स्वीकार किया जाना बिलकुल स्वाभाविक है।

हिन्दी भारतीय संघ की राष्ट्र-भाषा होगी और उसके आधे से अधिक लोगों की अपनी भाषा होने के कारण वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अब एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगी। चीनी भाषा के बाद वही दूसरी भाषा है, जो इतनी बड़ी जनसंख्या की भाषा है। हिन्दी के ऊपर इसके लिए बड़ा दायित्व आ जाता है। हिन्दी की एक विशाल जन-समूह के राज-काज और बात-चीत को ही चलाना नहीं है, बल्कि उसी को शिक्षा का माध्यम बनना है। फिर आज कल की शिक्षा सिर्फ कविता, कहानी और साहित्यिक निबन्धों तक ही सीमित नहीं है। विश्व की प्रत्येक उन्नत भाषा का साहित्य अधिकतर साइन्स के ग्रन्थों पर अवलम्बित है। अभी तक तो साइन्स की पढ़ाई अंग्रेजी ने अपने सिर पर ले रखी थी, किन्तु अब अंग्रेजों के साथ अंग्रेजी का राज्य जा चुका है। सरह-स्वयम्भू से पन्त, निराज्ञा, महादेवी तक का हिन्दी काव्य-साहित्य बहुत सुन्दर और विशाल है। नाटक छोड़कर सभी अंगों में विश्व के किसी भी प्राचीन और नवीन साहित्य से उसकी तुलना की जा सकती है। कथा-साहित्य में प्रेमचन्द ने जो परम्परा

बोली है, वह बतली जाने लगी है। हिन्दु जब हिन्दी में मातृ-जान-विज्ञान माना होगा। कुछ लोग इसे बहुत भारी, शायद मदिनों का काम समझते हैं, यान्त्रिकी मम्मल में यह उनकी भूल है। छात्र श्रम चीत की भाँति हो, इसे साहित्य-जगत् में गृहण करने वालों की बसो मदी होगी।

हमारे स्वयन्त्र देश के मामले बहुत छोटी भाषा-भाषी काम है। हमारी बिना दायता ने हमें दुनिया के छोटी देशों ने बहुत पीड़े रखा है। बिदेसी शासक हमी में अपना दिन समझते थे। जब मदिनों की दिव्यी पाया की हमें बपों में पूरा करना है। हममें साहित्य की महा-पणा सबसे अधिक आरम्भक है। हमें ऐसा साहित्य नैया करना है, जो दुनिया की शीर्ष में आगे बढ़ने में सहायक हो, न कि हमें पीड़े लीये। निरामाराद के लिए मैं कहीं भी गुंजाइरा नहीं देखता। हमारे पास बुद्धि-बल है। हमारी भात-मदी मधुमुष वसुन्धरा है। हमारे बहतर करोड़ हाथ हैं। हमें विश्व की सबसे बड़ी तीन शक्तियों में अपना स्थान लेना है। हमलिय भारत के हरेक पुत्र और पुत्री के विभ्रम लेने का मौका नहीं है। सबसे एक माप लेकर आगे कदम बढ़ाना है। देश के शीघोगीकरण और कृषि को विज्ञान-मम्मल बनाने में हमारे साहित्य की बहुत बड़ा भला लेना है। आगे पन्थीय साल देश का सबसे अधिक कर्मठ जीवन होना चाहिए। हम भारत माना के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करें।

विधान-परिषद् यदि हिन्दी को हमारे भारत-संघ की राष्ट्र-भाषा मान लेती है, तो वह उससे हिन्दी पर कोई दया नहीं दिखलाती; बल्कि अपने इस काम से अपनी व्यवहार-बुद्धि का परिचय देती है। मान लीजिए विधान-सभा में हमारे नेताओं ने जैसे-तैसे करके हिन्दु-स्तानी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार करवा लिया। हिन्दुस्तानी का अर्थ है हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाएँ तथा नागरी-और फरसी दोनों लिपियाँ किसी प्रांतीय सरकार को अपनी सीमा के भीतर अपनी लिपि और

उर्दू भाषा के प्रयोग के लिए केन्द्रीय सरकार बाध्य नहीं कर सकती क्योंकि प्रान्तों को अपनी-अपनी राष्ट्र-भाषा चुनने का अधिकार मिल चुका है। इसी तरह केन्द्र के साथ व्यवहार करने के लिए उर्दू और हिन्दी भाषाओं की लिपियों में किसी एक को चुनने का अधिकार रहे। युक्तप्रान्त या बिहार से केन्द्रीय सरकार कभी आशा नहीं रख सकती कि वह हिन्दी और उर्दू दोनों में केन्द्र के साथ लिखा-पढ़ी करे। यह स्पष्ट ही है कि जब तक प्रान्तों को दोनों भाषाओं और लिपियों के व्यवहार के लिए बाध्य नहीं किया जाता तब तक हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का प्रान्तों के भीतर तथा केन्द्र के साथ लिखा-पढ़ी में व्यवहार किया जायगा। इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ तक हिन्दी प्रान्तों का सम्बन्ध है, वह ही राज-भाषा और राष्ट्र-भाषा दोनों ही हिन्दी होंगी। फिर क्या उर्दू भाषा और लिपि का व्यवहार बंगाल, आसाम, उड़ीसा, गुजरात, महाराष्ट्र और आन्ध्र आदि के मध्ये मड़ा जाय ? हाँ यदि इन प्रान्तों के प्रतिनिधि उर्दू भाषा और लिपियों भी राष्ट्र-भाषा और लिपि के तौर पर रखने का आग्रह करते हैं, तो उन्हें खुद समझना चाहिए कि इसका फल उन्हीं को भोगना होगा। हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त अपनी मार्ग निरिषत कर चुके हैं; उन्हें जहाँ तक राज-काज का संबंध है, उर्दू भाषा से कुछ लेना-देना नहीं है।



राष्ट्र-भाषा का महत्त्व

(डॉक्टर अमरनाथ झा)

हिन्दी-जगत् में जनप्रीय भाषाओं के सम्बन्ध में बहस हुआ करती है। भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है और हमें भाषार्थ तथा ले प्रचलित है। इतनी भाषाओं का रहना और हमें हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानना महत्त्व की बात है। कई भाषा-संस्था से अपनी मुद्रणा करती है। कई में उपकोटि का सहाय्य से हममें साहित्य की रचना होती आई है। विद्वानों से हमें साहित्य की नीति प्रांतीय भाषाओं के विरुद्ध नहीं है। पत्र-साहित्य-सम्मेलन की नीति प्रांतीय भाषाओं के विरुद्ध नहीं है। पत्र-विषयों से हमें साहित्य की नीति प्रांतीय भाषाओं के विरुद्ध नहीं है। पत्र-स्वातन्त्र्य की धारणा है। पूजा जाता है कि क्या दुन्दुबली-अवधी, राजस्थानी, मजभाषा हिन्दी से मिल्न है और क्या हमें प्रोत्साहन से हिन्दी की शक्ति नहीं होगी? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का यह अन्त-मिद अधिकार है कि वह अपनी मातृ-भाषा का अध्ययन करे और इसी में उसकी प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करे।

हिन्दी—राष्ट्र-भाषा के रूप में—शिष्या का माध्यम हो। प्रारम्भिक शिष्या मातृ-भाषा द्वारा पा लेने पर विद्यार्थी को राष्ट्र-भाषा सीखने अथवा राष्ट्र-भाषा द्वारा सीखने में कठिनाता न होगी। इस पद्धति से मातृ-भाषाओं की रक्षा के साथ-साथ राष्ट्र-भाषा का भी हित है। किसी प्रांत के निवासी के मन में यह आशंका उत्पन्न न होगी कि उसकी मातृ-भाषा का लोप होने का डर है। और इनमें से कई भाषाएँ तो ऐसी हैं जिनमें अग्रेष्ठा साहित्य भी है। हिन्दी का जो रूप अब प्रचलित है वह कुछ थोड़े भाग को छोड़कर कहीं के निवासियों की, मातृ-भाषा नहीं है। परन्तु साहित्यिक और राजनीतिक क्षेत्र में यह इतना व्यवहार में है, सत्तर वर्ष से इसका इतना प्रचार हो गया है और भारतवर्ष की भाषाओं में इसकी इतनी प्रतिष्ठा हो गई है कि इसको सद्गति ही राष्ट्र-भाषा का पद मिल गया है। राष्ट्र-भाषा में ही दूसरी और उच्च धेखी की शिष्या होनी चाहिए, परन्तु साथ ही अन्य भाषाओं में भी साहित्य-रचना होती रहे यह वांछनीय है। उदाहरण रूप में मज-साहित्य इतना सुन्दर है और मज-भाषा इतनी मधुर है कि इस साहित्य का भविष्य में अस्तित्व ही न रहे इसको कौन साहित्य-प्रेमी अंगीकार करेगा? हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कर्तव्य है कि वह इस साहित्य और इसी भाँति और साहित्य की भी उन्नति में सचेष्ट रहे।

हिन्दी उर्दू दोनों—राष्ट्र-भाषा हिन्दी का स्वरूप बही होगा जिसमें समस्त भारतवर्ष के निवासी सुगमता से अपने विचारों को व्यक्त कर सकेंगे। इस देश की मुख्य भाषाओं में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है और संस्कृतमयी हिन्दी को ही सब प्रांतों के रहने वाले अपनायेंगे। रही समस्या उर्दू की। यह समस्या तो केवल संयुक्त-प्रांत और पंजाब की है और यहाँ भी शहरों तक ही सीमित है। देहाजों में तो सबकी बोली एक ही है।

यद्यपि प्रारम्भिक काल में उर्दू इस देश की प्रधान भाषा थी और उर्दू के आदि कवियों ने इस देश की संस्कृति को सुरक्षित करने का

प्रयास किया था, तथापि खेद के साथ कहना पड़ता है कि काल-क्रम से उर्दू केवल फारसी का एक श्रंग हो गई और उर्दू-साहित्य में भारतीय जीवन और भारतीय संस्कृति की कहीं झलक नहीं आती है। फिर भी उर्दू को भी उन्नति करने का अधिकार है और इसकी गति को रोकना अनुचित है। हम इसकी समृद्धि चाहते हैं, हम चाहते हैं कि यह भी फूले-फूले। उर्दू से हमें द्वेष नहीं है। किसी साहित्य-रसिक को किसी भाषा अथवा साहित्य से द्वेष नहीं हो सकता।

हिन्दुस्तानी मही उर्दू है—रही बात 'हिन्दुस्तानी' की। यह कौन भाषा है, कहाँ को है, किसकी है? इसका साहित्य कहाँ है? इस भाषा में कौन लिखता है? धर्म-शास्त्र, राजनीति, विज्ञान, दर्शन, इत्यदि विषयों पर ग्रंथ किस भाषा में लिखे जाते हैं? हिन्दुस्तानी के गढ़ने का प्रयोजन क्या है? प्रचलित भाषाओं को विकृत करना कौन-सी बुद्धिमत्ता है? क्या हिन्दुस्तानी में भावुकता आ सकती है? क्या इसमें गूढ़ विषयों को व्यक्त करने की क्षमता है? हिन्दुस्तानी के जो गेजे-से उदाहरण हम देख सके हैं उसको तो मही उर्दू कहने में हमको संकोच नहीं है। उर्दू के वाक्य में हिन्दी के एक दो शब्द रखना भाषा-शैली के साथ परिहास करना है। हिन्दुस्तानी आंदोलन से हिन्दी-संसार तो घसन्नुष्ट ही है, उर्दू-जगत् भी प्रसन्न नहीं है। उचित यही है कि हिन्दी और उर्दू दोनों की गति अविरोध रहे।

अपनी भाषा के शब्दों का प्रयोग—बहुधा देखा गया है कि म यदि अंग्रेज से मिलते हैं तो अंग्रेजी में उससे बातें करते हैं, बख्शियारी के निवासी से मिलते हैं तो उर्दू में बातचीत करते हैं; पन्तु बंगाल, महाराष्ट्र अथवा गुजरात प्रान्त के रहने वालों से बंगाली या उर्दू अथवा गुजराती में बात नहीं करते हैं। अंग्रेज हमें 'गुरु-निंग' कहता है, उर्दू वाले 'सख्तान वाले कुम' अथवा 'घादाशुधरी' कहते हैं, पन्तु हम उन्हें 'नमस्कार' वा 'नमस्ते' कहते दिखाने हैं। 'वंदित साहब' कहे जाते हैं, पर हमें 'मौजबो ली' कहने संकोच

होता है। हमें अपनी भाषा के शब्दों का प्रयोग करते हुए आनन्द और गर्व होना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो आपस की बातचीत हमें शुद्ध हिन्दी में करनी चाहिए। जिस प्रकार की लिपिहीन बोझों का अभ्यास हमें छग गया है उसे छोड़ना चाहिए। पिछले दिनों से फ्रांस की एक महिजा प्रयाग में-हिन्दी के अध्ययन के लिए आई हुई थी। यह जड़कियों के छात्रावास में भारतीय जड़कियों के साथ रहती थी। हमारी जड़कियाँ जब एक दूसरे से बात करती थीं तो बहुत-से अनावश्यक अंग्रेजी शब्द व्यवहार में जाती थीं। इस क्रम में महिजा को आश्चर्य होता था और इसका प्रभाव इतना अच्छा पड़ा कि वहाँ की अन्य भारतीय जड़कियाँ शुद्ध भाषा बोलने-का यत्न करने लगीं।

देवनागरी की विशेषता—इसके कुछ दिनों से हमें यह आदेश मिलने लगा है कि प्रत्येक विद्यार्थी को दो लिपियों सीखनी आवश्यक होनी चाहिए—हिन्दी लिपि और उर्दू लिपि। हिन्दी लिपि और उर्दू लिपि कोई लिपि नहीं है। नागरी लिपि और फारसी लिपि हैं। देश की और प्रधान लिपियाँ ये हैं—बंगला, गुजराती, गुरुमुखी, तामिळ, तेलगू, कन्नड़, मलयालम। इनमें देवनागरी को ही प्रधानता है। फिर यदि नागरी के साथ और कोई लिपि भी सीख सके तो अच्छा अवश्य है परन्तु हमारी लिपि वैज्ञानिक दृष्टि से इतनी शुद्ध व्यावहारिक दृष्टि से इतनी सरल है कि इसका त्याग हमारे लिए अनावश्यक है, अहितकर और असम्भव है। प्रत्येक प्रान्त में नागरी और फारसी दोनों लिपियों को अनिवार्य बनाना बच्चे पर बहुत बड़ा बोझ-दाबना है। देवनागरी की विशिष्टता यह है कि जैसी यह लिखी जाती है वैसा ही उच्चारण होता है। यह विशेषता न रोमन में है, और न फारसी में।



राष्ट्र-भाषा हिन्दी

(भी माधुराज विष्णु पराङ्कुर)

✓ यह राष्ट्रीयता का युग है—यह राष्ट्रीयता जिसके बिना कोई भी कोई जाति, कोई कौम्य अन्तर्देशीय क्षेत्र में अपना उचित पद पा नहीं सकती। राष्ट्रीयता की एक शर्त यह है कि उसकी एक भाषा है। यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्र-भाषा सबकी मातृ-भाषा हो। राष्ट्र-अवधारणमूल खोंगों में बहुजन उसे समझे और उसके द्वारा-शासन-स्वायत्त आदि कार्य करें तो यह राष्ट्र-भाषा हो सकती है। मातृ-भाषा भी राष्ट्र-भाषा होती है पर वह राष्ट्र छोटे होते हैं तथा उसके अवधारणमूल मूल खोंग वही भाषा घर में भी बोलने हैं। भारत अति विराट देस है तथा इसमें संस्कृत से सम्बद्ध अनेक भाषाएँ बोलनी जाती हैं। इनके निवा अनेक अनार्य भाषाएँ भी बहुसंख्यक खोंगों की मातृ-भाषाएँ हैं। अतः यहाँ की राष्ट्र-भाषा किसी एक समूह की मातृ-भाषा नहीं हो सकती बल्कि वही भाषा राष्ट्र-भाषा का पद ग्रहण कर सकती है जो हिमाचल से कन्याकुमारी तक सर्वत्र अल्पाधिक परिमाण में बोलनी या समझी जाती और अन्तर-ध्यापन में सीखी जा सकती हो। वह भाषा हिन्दी ही है और हिन्दी ही हो सकती है। मैं हिन्दी उर्दू के मूल-सम्बन्धी अन्गरे में यहाँ पक्षपात नहीं चाहता, पर इतना कहूँगा कि उर्दू के भी आधार मूल (बेसिक) शब्द जिस भाषा के हैं वह भाषा

हिन्दी है। हिन्दी नाम उस भाषा का वह पदा था जब उर्दू नाम की कल्पना भी नहीं हुई थी। हिन्दुस्तानी नाम तो हाल का है और इसका प्रयोग संकुचित अर्थ में ही किया जाता रहा है। स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा कहते हैं—“उन लोगों का मतलब हिन्दुतानी से उस ज़मान से था, जिसे उत्तर भारत के युक्त प्रदेश और अन्तर्बंद (दोघाब) के लोग और दिल्ली, मेरठ, आगरा आदि के रहने वाले मुसलमान बोलते थे; और जो दक्षिण के मुसलमानों में भी प्रचलित हो गई थी। जो मतलब इस समय आम तौर से उर्दू का समझा जाता है, वही मुसद इस हिन्दुस्तानी से थी—अर्थात् हिन्दी भाषा का वह रूप जिसमें विदेशी भाषाओं के शब्द अधिक हों।”^७ आजकल भी हिन्दुस्तानी से हमारे उर्दू-श्रेणी भाई उर्दू ही समझने हैं और इसमें से चुन-चुनकर संस्कृत के उत्तम शब्द और अधिक-से-अधिक तद्भव शब्द भी निकाल बाज़ने पर तुले हुए हैं। यह प्रवृत्ति यदि केवल हिन्दी-दक्षिणों और अरबी-फारसी के प्रेमियों में ही पाई जाती तो हम इसका विरोध न करते पर अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ता है कि सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता मौलाना अबुलकलाम आज़ाद के प्रमाण-पत्र के साथ जिस भाषा का प्रचार राष्ट्र-भाषा के रूप में किया जाने लगा है उसमें से भी हिन्दी प्रचलित शब्द निकाले जाने और अरबी के चढ़ाये जाने लगे हैं। हाल में दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा द्वारा मद्रास में ‘हिन्दुस्तानी की पहली किताब’ प्रकाशित हुई है। पुस्तक के आरंभ में मद्रास मान्ट के प्रधानमंत्री के नाम लिखा हुआ मौलाना अबुलकलाम आज़ाद का अंग्रेजी पत्र छपा है जिसमें आव कर्माते हैं कि इस पुस्तक में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह वास्तव में उस भाषा का नमूना है जिसे सर्व मान्य भाषा बनने का स्वाभाविक

^७ ‘हिन्दी, उर्दू और हिन्दुतानी’, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, यू० पी० द्वारा इलाहाबाद से प्रकाशित; पृ० २६-३०।

अधिकार है। मौजाना अथु अन्वयम आहार तिणे सार्वांगीय वा राष्ट्रीय भाषा बनने की अधिकारिणी समझने है वही यदि 'हिन्दुस्तानी' है तो मैं विःसन्दिग्ध विम सं साहित्य-सामेजन को सचाद पूँगा कि निर्भीकता के साथ यह शब्दों में यह इयका विशेष को। 'जागी-प्रचारिणी परिषद' के बैसास संवत् १९१७ के संक में मेरे मित्र भी रामचन्द्र वर्मा ने वही घोषणा के साथ इगकी समीचा की है और मैं इयका समर्थन करता हूँ। वर्माजी करते है—“इय पुस्तक में हिन्दी भाषा के शब्द अनेकार्थक बहुत ही कम है और अरबी-फारसी शब्दों की भरमार है। उदाहरणार्थ, पुस्तक के सातवें पृष्ठ पर अरम, जमजम, अममय आदि अरबी के ऐसे विकट शब्द आये हैं जिनका मतलब साफ् मद्भाग के बड़े-बड़े मुन्ना भी न समझने होंगे। और इमी तरह के शब्दों से पुक्त हिन्दुस्तानी भाषा के सम्बन्ध में पुस्तक के आरम्भ में 'बच्चों से' कहा गया है—“यह हमारे देश के बच्चों आदिमियों की जवान है और थोड़े दिनों में देश के गारे खोग इये समझेंगे।…………इससे धायम का मेल-जोड़ और बढ़ेगा।” अरबी और फारसी के मुरिकल-से-मुरिकल शब्द तो इसमें बिजकुल शुद्ध रूप में हसे गए हैं, लेकिन संस्कृत के सीधे-सादे 'असृत' शब्द के भी हाथ पैर लोढ़कर उसे 'अमरत' बना दिया है। पृ० ३० में धाया है—“रामदास ने भी दादी से कहा—दादी-की, नमस्ते।” यह है भाषा के नाम पर संस्कृति की हत्या। केवल शब्द ही नहीं, इस पुस्तक के धाव्यों की रचना भी उद् है, हिन्दी नहीं और इसको प्रकाशित किया है दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार-समा ने! मेरा खयाल है कि समा इस मामले में राष्ट्रनीतिक दबाव में पड़ गई है। हिन्दुस्तानी नाम की जिस भाषा का प्रचार मद्रास-सरकार अपने स्कूलों में करने जा रही है उसके सम्बन्ध में उद् के अभिमानियों को सन्तुष्ट रखना ही प्रचारकों का मुख्य उद्देश्य मालूम होता है। एक शुद्ध काँग्रेसजन के ही नाते मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि काँग्रेस में यह प्रवृत्ति बहुत बढ़

नाई है और इसका परिणाम बुरा हो रहा है। जिनके लिए भाषा के साथ-साथ, श्री रामधन्नी वर्मा के कथनानुसार, संस्कृति की भी रक्षा की जा रही है वे तो कांग्रेस की ओर घाते ही नहीं, उल्टे उनके हृदय को घोट पहुँचाने लगी है जिनके कारण कांग्रेस का कांग्रेसत्व है। साहित्य-सम्मेलन को चाहिए कि कांग्रेस के कर्णधारों का ध्यान इस ओर दिखाकर राष्ट्र-भाषा के नाम होने वाले इस अकारण-तात्पर्य की समझ रखते रोकने की प्रार्थना न करता किन्तु रक्षा के साथ करे।

हिन्दुस्तानी के नाम पर यह जो अनर्घ हो रहा है उससे केवल हिन्दी की ही नहीं; बल्कि भारतीय संस्कृति की रक्षा करने के लिए भी मैं कहता हूँ कि हमारी राष्ट्र-भाषा का नाम हिन्दी होना चाहिए और उसकी प्रवृत्ति भी हिन्दी यानी हिन्दो की होनी चाहिए। शब्दों के सम्बन्ध में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। संस्कृत तथा विदेशों की प्राचीन और चर्वाचीन भाषाओं से मिलने अधिक शब्द हिन्दी में आये उतनी ही उसकी सम्पत्ति बढ़ेगी और भिन्न-भिन्न भाषों के प्रकट करने में उतनी ही अधिक सरलता होगी। जिस भाषा या वस्तु का शोक शब्द हिन्दी में है उसी के पर्यायवाची अन्य शब्दों के लेने में भी कोई आपत्ति न होनी चाहिए क्योंकि प्रथम-प्रथम जो शब्द केवल पर्यायवाची होते हैं वे ही अल्पे खेसकों के हाथ में पड़कर एक ही भाव के कई सूक्ष्म भेदों के स्वतंत्र हो जाते हैं और इससे भाषा का सौन्दर्य और बल बढ़ाते हैं। पर इनका प्रयोग सावधानी के साथ करना चाहिए। संस्कृत कासम संज्ञा का विशेषण अरबी तत्सम शब्द हो तो वह कर्ण-कटु होता है, भाषा साहित्य से कोसों दूर भाग जाती है। उदाहरणार्थ 'अनुकरणीय बकादारो' ही लीजिये। कितना कर्णकटु लगता है। इसका अर्थ यह नहीं कि भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्द एक साथ आने से ही भाषा कर्णकटु हो जाती है। अल्पे कवि और माजी कहीं-कहीं से शब्द और फूल छाकर सुन्दर गुच्छदस्ता बना देते हैं जो देखते ही बनता है। उदाहरणार्थ, उर्दू के आदि कवि बली के शेर लीजिये—

तुम्हें इश्क में जल-जलकर सब तन को किया काजल,
 यह रोशनी-अफजा है अँखियन को लगाती जा ।
 तुम्हें इश्क में दिल चलकर जोगी का लिया सुरत,
 यक धार अरे मोहन छाती सों लगाती जा ।
 तुम्हें घर के तरफ सुन्दर आना है बली दायम,
 मुरताऊ है दर्शन का टुक दरस दिखाती जा ।

इन शेरों में संस्कृत और अरबी तत्सम और तद्भव शब्दों का कैसा सुन्दर मेल है । यह उस समय की भाषा है जब भारतीय और विदेशी शब्द एक दूसरे से मिलकर हमारी मातृ-भाषा का भण्डार और सौंदर्य बढ़ाने लगे थे । यदि उर्दू के कवि और खासकर मुसलमान कवि केवल शब्द बाहर से लाकर ही संतुष्ट होकर भारतीय भाषों की रक्षा करते होते तो निश्चय ही वे ऐसी भाषा तैयार करने में समर्थ होते जो वास्तविक अर्थ में राष्ट्र-भाषा बन जाती और उत्तर भारत में साहित्य की एक ही भाषा रहती । पर पहले तो मुसलमान कवियों के फारसी लिपि को ग्रहण करने से उनकी हिन्दुस्तानी या उर्दू अपनी आधारभूत हिन्दी से दूर-दूर जाने लगी । इस पर उन्होंने जब अपने लिपि म्याकरण और छन्द भी विदेश से मँगाये और उपनाम भी अरब फारस से आने लगे तब इन दोनों के घोष का अन्तर धीरे-धीरे बढ़ने लगा, वहाँ तक कि अब हिन्दी और उर्दू बिलकुल भिन्न भाषाएँ समझी जाने लगी हैं । हमारे मुस्लिम कवियों को भारत की कोकिल न भाई, फारस के चम-निरतान से बुलबुल को लाकर हमारे-घापके शृंगी पर बैठा दिया । -- उन्हें उपमा के लिए इस देश के अगाध-साहित्य में उपमान न मिले । यद्यपि दोनों गैरमुस्लिम थे पर उन्हें मुकराव और अफलातून का अभिमान हुआ, कविल, प्याम की घोर से मुँह मोड़ लिया । परि-याम जो होना था, वही हुआ । क्या शब्दों में और क्या भाषों में उर्दू-साहित्य बहिर्मुख हो गया । यद्यपि कुछ मुस्लिम कवियों ने भारतीय बनने का परम क्रिया और मात्र वह प्रकृति यत्र-उत्र बगती दिखाई देती

है फिर भी मुझे अपने उद्दोषों मिश्रों से यही मालूम हुआ है कि उद्दोष-प्रवाह केवल बहिर्मुख ही नहीं उसका उद्गम भी अथ विदेशी मालूम हो रहा है । जिसके साहित्य की आत्मा थीर दृष्टि ही अपनी न हो वह कैसे राष्ट्र-भाषा बन सकेगी, इसका विचार विद्वग्जन ही करें ।

अन्य भाषाओं में से शब्द लेने में कोई आपत्ति नहीं बरख लेने चाहिए । पर इसके साथ एक शर्त है । शब्द मूलतः चाहे जिस भाषा के हों, पर जब हम लें तो उन्हें अपना-सा बनाकर लें । अर्थात् उनकी ध्वनि हमारी भाषा की ध्वनि से मिलती-जुलती हो । मूल ध्वनि की रक्षा करने का यत्न केवल व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक भी है । यह बात केवल अरबी-फारसी के ही नहीं संस्कृत के शब्दों में भी है, हाँ, संस्कृत-शब्दों का उच्चारण हिन्दी भाषा बोलने वालों के याम्यंत्र के लिए प्रायः स्वाभाविक होने के कारण उनमें हिन्दी हो जाने पर भी अधिक परिवर्तन नहीं होता और अरबी-फारसी के शब्दों में होता है । पर यह अनिवार्य है । अगर शब्दों का उच्चारण मूल में जैसा है वैसा ही बनाये रखने का यत्न करने से वे कभी हमारे न होंगे । भाषा उनको हजम न कर सकेगी, भाषा को उनसे बदहजमी हो जायगी । इन्हीं शब्दों के सम्बन्ध में दूसरी शर्त यह है कि ये हमारे व्याकरण के शासन में आ जाय । हम शब्द अन्य भाषाओं से ले सकते हैं पर उनके जिन और वचन सम्बन्धी रूपान्तर हमें उस भाषा के व्याकरण के अनुसार न बनाने चाहिए जिससे वे आये हों । शब्दों को भाषान्तरित होने के साथ-साथ व्याकरणान्तरित भी होना ही चाहिए । संघेजी में हिन्दी से अनेक शब्द गये हैं, जैसे जंगल, परिदृष्ट आदि । इनके बहु वचन संघेजी भाषा के नियमों के अनुसार जंगलस, परिदृष्ट आदि होते हैं । हिन्दी संस्कृत के नियम लागू नहीं होते । हिन्दी में भी हम संस्कृत से शब्द लेते हैं पर उनके रूपान्तर अपने ढंग से बना लेते हैं । उदाहरणार्थ 'पुस्तक' शब्द संस्कृत है और वहाँ उसका बहु वचन पुस्तकानि होता है, पर उसके हिन्दी हो जाने पर बहु वचन हिन्दी व्याकरण के अनुसार

पुण्य है होता है, न कि पुण्यकानि। पर नियम सर्वत्रही, सरसी-कार्य के शब्दों में भी लागू होना चाहिए। उदाहरणार्थ, हमने 'गुट' शब्द को सर्वत्रही ले लिया है। इसकी आरपकता भी थी। पर इसका बहु वचन भी नहीं ले लेने की कोई आरपकता नहीं है। अपने व्याकरण के नियमानुसार प्रथमा में गुट का बहु वचन गुट ही होता है और हमें दो गुट, तीन गुट चाहिए ही लिखना चाहिए, न कि दो कीट, तीन कीट चाहिए। शब्दों में पदार्थ जाने वाली गणित की पुस्तकों में 'कीट' देगकर मुझे तो 'किट' आया है। 'सादर' हमने आरको से लिया है और यह निरव की बोज-बाज में भी आया है पर इसका बहु वचन 'सादाव' करना उसे हिन्दी न होने देना और हिन्दी को संश्रयों का का शिवाज बनाना है। 'स्टेशन' 'इस्टेशन' बनकर अपना अपने मूल रूप में, हिन्दी शब्दों में आया है। पर इसका बहु वचन 'स्टेशन्स' हमने नहीं लिया है। हम कहते हैं, 'राष्ट्र में हमने कई-कई स्टेशन देखे' न कि 'स्टेशन्स' देखे। इतने उदाहरण काफी हैं। तार्किक कहने का इतना ही है कि बाहर से शब्द मंगाइये पर उन्हें अपना लीजिये—अपने व्याकरण के शासन में लाइये।

बाहर के सब शब्दों का स्वागत करने वाली हिन्दी ही हमारी राष्ट्र-भाषा हो सकती है और स्वभावतः है। हिन्दी का अर्थ है हिन्द की भाषा। 'हिन्दुई' या 'हिन्दवी' किसी जमाने में हिन्दू की भाषा समझी जाती रही होगी पर आज हमारी हिन्दी हिन्द की भाषा है। इसका कोई प्रांतीय नाम नहीं है, यही इस बात का प्रमाण है कि वह सारे देश की—हिन्द की भाषा है। मराठी, गुजराती, बंगला, तामिळ, तेलगू आदि भाषाएँ प्रांतीय भाषाएँ हैं जो उनके नाम से ही चिन्हित होता है। पर हिन्दी सारे देश की भाषा है। इसका आधुनिक साहित्य अनेक प्रांतीय भाषाओं की तुलना में छोटा होने पर भी वह राष्ट्र की जोड़ी-सी, परन्तु बहुमुख्य सम्पत्ति है, उसकी अपनी भाषा है। इसमें प्रांतीय अभिमान बिलकुल नहीं है, जो बात अन्य भाषाओं के सम्बन्ध

में नहीं बही जा सकती। प्रांतीय अभिमान के अभाव के साथ-साथ इसमें अन्य प्रांतों के सम्बन्ध में अवज्ञा-सूचक-कोई शब्द भी नहीं है, यह भी इसकी राष्ट्रीयता का एक प्रमाण है। इसके खेलकों का लक्ष्य हिन्द होता है, कोई प्रांत विशेष नहीं। बंगाली 'बंग धामार, धामार देश' गा सकते हैं, 'महाराष्ट्र देश प्रमुखा' कहकर महाराष्ट्रवासी पूजे बंग नहीं समाले हैं, पर हिन्दी जिनकी मातृ-भाषा है उनके लिए तो 'भारत हमारा देश है' हिन्दी राष्ट्र के लिए, राष्ट्र के मुँह से बोलती है क्योंकि यह राष्ट्र की भाषा है और हमारी मातृ-भाषा भी।

राष्ट्र-भाषा और मातृ-भाषा में भेद—राष्ट्र-भाषा और मातृ-भाषा में भेद है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ मातृ-भाषा हो सकती है, पर यह जरूरी नहीं है कि राष्ट्र-भाषा मातृ-भाषा ही हो। हिन्दी के राष्ट्र-भाषा बनने का यह अर्थ नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं, कि अन्य भाषा-भाषी सज्जन अपनी मातृ-भाषाओं का त्याग करके हिन्दी को अपनायें। राष्ट्रीयता का अनुरोध तो केवल इतना ही है कि सारे राष्ट्र की एक भाषा हो जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रांतों के सज्जन परस्पर सम्बन्ध स्थापित करें, विचारों का आदान-प्रदान करें तथा सब सर्वप्रांतीय कार्य इसी के द्वारा करें। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाना कॉंग्रेस ने इसीलिए स्वीकार किया है कि सारे राष्ट्र की एक सामान्य भाषा हुए बिना राष्ट्र फूलने-फूलने नहीं पाता। स्वतन्त्रता का फल नहीं पा सकता, मानव-उन्नति के कार्य में वह भाग नहीं ले सकता जो उसका अपना कर्तव्य है। अतः यदि हम एक राष्ट्र होना चाहते हैं, संसार में अपना गौरव-मण्डित पद ग्रहण करना चाहते हैं तो हमारा—भारत-सन्तान-मात्र का—कर्तव्य है कि वह हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने में यथाशक्ति सहयोग करे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का तो इस सम्बन्ध में अधिकतर महत्वपूर्ण कर्तव्य है। जहाँ उसे यह देखना है कि राष्ट्र-भाषा के नाम हिन्दी की और

हिन्दी संस्कृति की हत्या न की जाय वहाँ उसे हिन्दी का म
 मयझार उत्तमोत्तम शनों से भरने का यत्न भी करना है ।

सद्भाव प्राप्त में आज हिन्दी का प्रचार जितना हुआ है
 कल्पना करना भी दो दशक पूर्व असम्भव था । इस सफलता
 महात्मा गांधी को सबसे अधिक है । यदि इस कार्य को उनके
 व्यक्तिगत का महाराज न मिला होता तो यह इतना सफल
 होता ।

इस लेख को समाप्त करने के पहले मैं एक और महात्मा
 की ओर ध्यान दिखाना आवश्यक समझता हूँ । वह
 शब्दों के सिंगों को गवसद । मैं जानता हूँ कि इन बालों पर
 नहीं किया जा सकता । 'प्रयोगशरणाः पैदाकरणा.' वह हम
 विद्वानों का मय है और मय है । फिर भी हुआ ध्यान देने
 रचना इतिहास उल्लेख होती है कि हिन्दी भाषा केवल
 पाठों की सम्पत्ति नहीं है । यह राष्ट्र-भाषा है और राष्ट्र के वि
 इसे संघर्षात्प सुझाव करना हमारा कर्तव्य है । इस ओर
 ध्यान दे भी चुका है । दिल्ली-सम्मेलन में "हिन्दी भाषा के
 तथा उसके प्रचार की दृष्टि से हिन्दी शब्दों के जिन-ओर का
 निर्देशन करने के हेतु उचित मार्ग उपस्थित करने के लिए"
 निष्पत्ति की गई थी और भागपुर-सम्मेलन में इसमें दो मंत्र
 और जोड़ दिए और भी पुस्तकालय श्री उपरान्त इसके सं
 गठ । समिति की ओर में संयोजक श्री पुस्तकालय संघ
 प्रवर्ती लिपि में सहायी समिति में उपस्थित की थी । इस गा
 प्रस्ताव इस वर्ष के सम्मेलन में उपस्थित किया कि—'एक
 वह हीन विद्वान् माने जाय । (क) जीवधारियों के
 जिन शब्दों से जिन उपर है इन शब्दों का जिन शब्दों के
 (ग) निर्वीच बदलने तथा छोटे बहुरूपियों और कीर्त
 (ग) निर्वीच बदलने तथा छोटे बहुरूपियों और कीर्त
 (ग) निर्वीच बदलने तथा छोटे बहुरूपियों और कीर्त

भाषा के वर्तमान स्वरूप का ध्यान रखकर निश्चित नियम बनाये जायें । (ग) कुछ अपवाद न रखे जायें; किसी नियम का अपवाद भी कोई नियम ही हो जो सामूहिक रीति से कुछ शब्दों में लागू हो ।' इस पर निश्चय हुआ कि 'सम्मेलन स्थायी समिति की सिफारिशों को अस्थायी रूप से स्वीकार करवा है और स्थायी समिति को अधिकार देता है कि वह श्लिग के विषय में सम्मेलन की ओर से अन्तिम निर्णय करे ।' मुझे इस सम्बन्ध में यही निवेदन करना है कि यह प्रयत्न स्तुत्य है । इसकी सफलता पर राष्ट्र-भाषा का प्रचार बहुत-कुछ निर्भर है । साधारणतया, जहाँ जाति से श्लिग स्पष्ट नहीं होता, शब्दों के अन्वय और उपान्वय स्वरो और प्रत्ययों से श्लिग निर्धारित होता है । कुछ अपवाद अवश्य हैं पर यदि वे सामूहिक न हों और किसी में उपनियम न आ सकते हों तो उनका श्लिग साधारण नियम के अनुसार निर्धारित करना अथवा उन्हें उभय श्लिगी मान लेना अनुचित न होगा । ऐसा करने से अन्य भाषा-भाषी लोगों के लिए हिन्दी सीखना सहज हो जायगा । अवश्य ही इस सम्बन्ध में धीरे-धीरे अग्रसर होना चाहिए क्योंकि जीवित भाषा बहती नदी है जिसकी धारा नित्य एक ही मार्ग से प्रवाहित नहीं होती ।



व्यापक भाषा की आवश्यकता

(डाक्टर भगवानदास)

ज्ञान के प्रचार के वास्ते बोझी आवश्यक है। अन्य इन्द्रियाँ होये हुए भी, मनुष्य का परस्पर बुद्धि-संक्रमण, अवयवेन्द्रिय और वागिन्द्रिय द्वारा ही होता है। मुहम्मदीयाम जी ने कहा है, "गिरा अनयन, नयन विनु धानी, स्याम गौर किर्म कहीं यदानी।" मौलाना रूम, इनमे पहले कह चुके हैं, "मदमे ईं होरा जुब् बेहोरा नीस्त, मर जबां रा मुस्तरी जुब् गोश नीस्त," जवान के सौदे का खरीदार कान के बिना दूसरा नहीं। इस होश, इस ज्ञान का मदम, रहस्य-वेदी, इसके म' को पहचानने वाला, सिवा 'बेहोश', 'अनजान', 'ज्ञानातीत' के दूसरा नहीं है। इसी से वेद का नाम श्रुति है, परम्परा से सुनी हुई पुरानी बात। तो उत्तम ज्ञान के देश-भर में व्यापक प्रचार के लिए एक व्यापक बोझी आवश्यक है; तथा शिक्षक, शिष्य, और शिष्या के लिए स्थान आदि भी आवश्यक हैं। इन आवश्यकताओं को पूरा करने का कार्य साहित्य-सम्मेलन का है। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो भारतवर्ष की व्यापक भाषा कही जा सकती है। लोकमान्य तिलक ने महाराष्ट्र प्रान्त का शरीर रखते हुए भी, इस बात को स्वीकार किया, और सन् १९२० ई० में काशी में हिन्दी में भाषण दिया था। महात्मा गांधी ने, गुजरात प्रान्त का शरीर धरक

रते हुए भी, इस बात पर सत्य आप्रह किया है कि हिन्दी ही समस्त भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा है और होनी चाहिए, और जिस-जिस प्रान्त में इसका प्रचार अभी कुछ कम है वहाँ अधिक होनी चाहिए। स्वयं प्रायः सरल हिन्दी ही में अपने प्रभावशाली साम्प्रदायी व्याख्यान देते थे। बंग देश के भी कई विद्वान् और अग्रणी इसको मान चुके हैं। दूसरे देश के भी जो निष्पक्षपात निस्वार्थी विद्वान् हैं वे भी इसको मानते हैं। और गत सम्मेलनों में यह बात बड़े पापिहर्यपूर्ण सयुक्तियुक्त व्याख्यानों से सिद्ध की गई है। अब इस पर अधिक बहना निष्प्रयोजन है।

हिन्दी या हिन्दुस्तानी—हाँ, 'हिन्दी' शब्द में कुछ सन्देह हो गया है। इधर 'हिन्दी-उर्दू' का विषाद कुछ दिनों तक जो चला, उसके कारण मुसलमान धर्म वाले, 'हिन्द' में रहने वाले, अतः 'हिन्दी', हमारे भाइयों को इस शब्द से कुछ शंका हो गई। गो कि यह वृज्जत 'हिन्दी-उर्दू' ज्ञानों की नहीं थी, बल्कि नागरी-फ़ारसी अक्षरों की थी, तो भी इस शक और वृज्जत को मिटाने के लिए अथर कई सुधमिज्जत पेशवाओं की सलाह यह है कि 'हिन्दी' अक्षरों की जगह 'हिन्दुस्तानी' अक्षरों का हस्तमाल किया जाय।

यह भी अच्छा है। मेरा निवेदन केवल यह है कि जो ही अर्थ 'हिन्दुस्तानी' का है वही 'हिन्दी' का है, और 'हिन्दी' शब्द छोटा और बहुत दिनों से बर्ताव में है और सुविधा का है।

इस देश का नाम जैसे 'हिन्दुस्तान' है, वैसे ही 'हिन्द' है। बल्कि अफ़ग़ानिस्तान, फ़ारस, अरब, रूम, मिश्र आदि इस्लाम धर्म मानने वाले देशों में 'हिन्द' ही मशहूर है, और हिन्दुस्तानी क्रीमें, अरबों हिन्द के रहने वाले, हिन्द, मुसलमान, ईसाई, सब 'हिन्दी' के नाम से पुकारे जाते हैं, 'हिन्दुस्तानी' नहीं।

यों ही, पश्चिम और पूर्व के देश, गुजरात, अमेरिका, चीन, जापान आदि में 'इण्डिया' शब्द प्रसिद्ध है, तो 'हिन्द' शब्द का केन्द्र क्या है ? और जैसे पंजाब प्रांत का बसने वाला और उमड़ी बोली बंजारी, बड़ान की बड़ानी, गुजरात की गुजराती, कन्नड़ की कन्नड़ी, बनारस की बनारसी, शीमांत की शीमांती, म्म की म्मी, सिंध की सिंधी, कन्नड की कन्नड देग की कन्नडगी या कन्नडगी, इन सब से हिन्द देश का रहने वाला 'हिन्दी', चाहे वह कौन भी नाम का मानने वाला हो और कौन भी प्रांत का हो, और उमड़ी बोली को समान्यतः 'हिन्दी' ही, चाहे उमड़ा विशेष भेद बंगाल, मराठी, गुजराती, पंजाबी, सिंधी आदि कुछ भी हो । 'सिन्धु' नदी, 'सिन्धु' देश, ये नाम वैदिक और पौराणिक काल में चले आते हैं । सिन्धु देश में बसने वाली जातियाँ 'सिन्धव' कहलाती थीं । प्राचीन 'इराक' (वर्तमान देश में बसी हुई 'बाग़') जातियों की बोली 'सिन्ध' ('सिन्धु') भाषा में, इन शब्दों का रूप 'सिन्ध' और 'सिन्धव' हो गया । तथा 'सूनाती', ('सिन्धुनिपा' देश में बसने वाली 'सिन्धुनिपिन'), 'सिन्ध', आदि, जातियों की भाषा में 'सिन्ध', 'सिन्धिया', 'सिन्धियन' आदि हो गया ।

हिन्द और हिन्दू शब्दों के विषय में पिछले सम्मेलनों में बहुत शंका-समाधान हुआ है । इन शब्दों का प्रयोग, लिखारक अर्थों में, परदेशियों ने किया है, इसलिए इनका प्रयोग छोड़ देना चाहिए, 'भारत', और 'भारतीय' ही कहना चाहिए, इत्यादि । पर "योगार्थ-सिद्धिर्बलीयसी", यह सिद्धान्त है । अति प्राचीन वैदिक भाषा में 'असुर' शब्द का वह अर्थ था जो अब 'सुर' का है, "असून् राति इति", अर्थ देने बढाने वाले, और सुर का वह अर्थ था जो अब 'असुर' का, पर ऐसा बदल गया कि अब उसमें शंका का स्थान ही नहीं है । ऐसे ही, यह तो प्रत्यक्ष स्पष्ट है कि हिन्दी में जो 'तीला' और 'कड़वा' ये दो शब्द हैं, इनके मूल संस्कृत के दो शब्द 'तिल' और 'कटु' हैं । पर अर्थ बिलकुल उल्टा है, "निम्बं तिक्तं", नीम कड़वी है, और "मरिचं

कटु", मिर्च छीली है। जो "योगाद् रुदिरवलीयसी", अब जो 'हिन्द' हमारा प्यारा देश है, और 'हिन्दी' हमारी प्यारी बोली है, जिसको हिन्द के पैतील-चाळीस करोड़ 'हिन्दीयों' में से पचीस-तीस करोड़ किसी-न-किसी प्रकार से समझ लेते हैं, और साधारण कामों के लिए बोल भी लेते हैं। पर, साथ ही इसके, 'भारत' और 'भारतीय' को मुला नहीं देना है। इन शब्दों का भी प्रयोग समय-समय पर होते रहना ही चाहिए।

इस सम्बन्ध में काशी की विशेष अवस्था की कुछ चर्चा यहाँ करना चाहता हूँ। कई मानी में सारे हिन्द का संघेप रूप काशी है। लाहौरी टोला में पंजाबियों की बस्ती, बंगाली टोला में बङ्गालियों की, कन्दर घाट, हनुमान घाट पर तामिल-तेलंगों की, दुर्गाघाट पंचगंगा पर महाराष्ट्रों की, चौखम्भा में गुजरातियों की, घाट-घाट पर विशेष-विशेष राज-रियासतों के आदिमियों की, मदनपुरा अलहपुरा में मुसलमान भाइयों की, और सिक्कीड़ में ईसाई भाइयों की आवादी है। इनकी

७ १९४१ ई० की मनुष्य गणना से, भारत की जन-संख्या, ३८ कोटि हो गई; और प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है। किन्तु पाकिस्तान बनने के बाद अब भी इतनी ही जनसंख्या समझें वदनुसार, विविध भाषा-भाषियों की संख्या में भी वृद्धि हो रही है। यदि पर्मा देश की भी आवादी जोड़ी जाय तो प्रायः डेढ़ कोटि संख्या और बढ़ जाय। २३३,००० वर्ग मील का यह देश, १८५२ ई० तक स्वतंत्र राष्ट्र रहा; उस वर्ष, अंग्रेजों ने, इसके दक्षिणार्ध पर कब्जा कर लिया, और १८८५ में राजा को कैद करके उत्तरार्ध पर भी। पहले, पर्मा की भी भारत का एक प्रान्त, अंग्रेजों गवर्नमेंट ने बनाया; पर १९३५ से, 'राज-नीतियों'के कारण, इसके शासन प्रबन्ध को भारतीय प्रबन्ध से अलग कर दिया है।

रिश्तेदारियों चारों ओर हिन्द-भार में है और इनकी बहु-श्रेणियों तक, बनारसी हिन्दी अर्थ है, चाहे अपने-अपने प्रास प्रान्त की भोली क सब तीर्थों और विद्यापीठों में सबसे पुरान करती है। उपनिषदों में काशी के आचार्यों रामा दिवोदास ने वैद्यक का जीर्णोद्धार किया, के नाम से प्रसिद्ध है। भारतवर्ष के जो पुराने के नाम से प्रसिद्ध थे, उनमें अन्य सब शिथिल भी दो तीन सहस्र विद्यार्थियों को पुरानी री और शास्त्र-ज्ञान दे रही है। "ऋते ज्ञानान् का वाक्य है। "कार्यां मरणात् मुक्तिः" मधुरा माया काशी कांची अर्थतिका, पुरी मोक्षदायिकाः" यह भी। इन वाक्यों का स ही, कि वे सब क्या पुरानी 'यूनिवर्सिटी', थे, ज्ञानी महारामा सन्धे साबुलन यहाँ रहते बुद्धि वालों के हृदय में भी ज्ञान उत्पन्न हो ज्ञान के द्वारा उनको मोक्ष मिलता था।

न ह्यम्भयानि तीर्थानि, न देयाः मृच्छि
ते पुनतिउत्कालेन दर्शनादुपय
मश्रान् आषामतु तीर्थानि, सर्षभूतहित
निधयो ज्ञानतपसां, तीर्थीकुर्यन्ति सा
परिगुहान् (न) मुनीनां च तीर्थानां पुण्य
पर यह मन्त्र काय चय कथा रोप रह गई है

संस्तुत विद्या के प्रचार का प्रचार चय बाकी रह संतोषन भी आवश्यक है। चय तो जसने म-
-कोष में कुछ चय दिग्दर्श देता है।

है, प्रचलित बोली हिन्दी में, उच्चम साहित्य का संग्रह और प्रचार हो, तो पूरी भाषा है कि सर्वांगीण जाग डीक-डीक हो जाय, और शिक्षा, रक्षा, जीविका आदि सब कार्यों में सफलता, स्वतंत्र और स्वाधीन रूप से हो। जिनकी एक बोली, उनका एक मन। यदि देश के सब निवासियों का एक मन हो जाय, तो कौन-सी दृष्ट वस्तु है जो इनको न मिल सके।

एक लिपि और विविध भाषाओं के शब्द—इसलिए इस बोली का जितना अधिक प्रचार हो उतना ही अच्छा है मुझे इसका बहुत खेद है कि दिवंगत (कलकत्ता हाई-कोर्ट के भूतपूर्व जज) श्री शारदाचरण मिश्र ने, जो 'एकलिपिविस्तारपरिपत्र' स्थापित की थी, और उसकी जो त्रैमासिक पत्रिका निकाली थी, वह दोनों शान्त हो गईं, और इस ओर पुनर्बार प्रयत्न नहीं किया गया।

यह प्रायः निर्विवाद है कि जैसे नागरी अपरावली, वैसे नागरी लिपि भी, अन्य सब वर्णमालाओं और लिपियों की अपेक्षा अधिक शास्त्रीय 'सायन्टिफिक', सम्पूर्ण, अश्रान्त, और सब बोलियों के लिखने में समर्थ है। यदि पाँच-छाठ भाषाओं भरकी और अङ्गरेजी की ऐसी हैं जिनके लिए संस्कृत अपरावली और लिपि में संबंध नहीं है, तो वे सहज में, स्वरवर्ग और व्यंजनवर्ग में, स्थान और प्रयत्न के अनुसार, बदा जी जा सकती हैं, और अब बची जाने भी लगी हैं। जैसे स्वर-वर्ग में अरबी अ, अङ्गरेजी (तथा बंगला) ऐं और औं। व्यंजन में क और ग, बर्ग में ज, पवर्ग में फ, जिन के पुराने नाम जिह्वामुखीय और उपध्माणीय हैं। इत्यादि।

७ भां प्रेमचन्द और भी कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने 'हंस' नामक मासिक पत्र में इस प्रकार का कार्य फिर आरंभ किया था; पर खेद है कि भी प्रेमचन्द जी के देहावसान से वह काम, थोड़े ही समय बाद, बन्द हो गया।

मुझे लगता अनुभव यह है कि जब तक एकलिविचित्रात्मिका
 की परिष्ठा निरूपणी थी, मैं उगे निवम मे पदा करना या और नागरी
 अक्षरों में दूरे हुए उगके बंगला, मराठी, गुजराती लेख भी प्रायः सब
 समझ जाता था। हाँ तेजगू, तामिळ लेख तो नहीं समझ पढ़ने थे।
 पर उगमें भी कहीं-कहीं पुराने संस्कृत शब्द पहचान पढ़ जाने थे।
 उर्दू का तो कहना ही क्या है। यह तो सिद्ध हो चुका है कि हिन्दी
 उर्दू में इतना भी भेद नहीं है जितना हिन्दी-बंगला या हिन्दी-गुज-
 राती या हिन्दी-मराठी में है। क्रियापद उर्दू में प्रायः सब ही हिन्दी
 के अर्थात् संस्कृत प्राकृत के हैं। आना, जाना, स्थाना, पीना, देखना,
 सुनना, सोना, जागना, जानना, खूबना, समझना, चलना, छिना,
 इत्यादि। धातुओं की बनापट हिन्दी की ऐसी ही होती है। विभक्ति-
 धातुक शब्द सब हिन्दी के हैं। संज्ञा-पद, संज्ञा-विशेषण, और क्रिया-
 विशेषण, फ़ारसी-अरबी के ज़्यादा प्रयोग करने से बोली उर्दू और
 संस्कृत के अधिक होने से हिन्दी, कंही जाती है। यह तो कुछ भी
 फ़रक नहीं है। संज्ञा-पद तो हमको सभी भाषाओं से, जो-जो झूली
 हों, लेना उचित ही है। बहुत-से अंग्रेजी के शब्द अब भी भाषा में ले
 लिये गए हैं। अरबी-फ़ारसी के शब्द अगर कसरत से हिन्दी में लिये
 जायें, तो एक प्रायदा यह होगा कि अरब, फ़ारस, मिस्र देश का
 सम्बन्ध इस धरा में बना रहेगा, जिससे 'एशियाटिक यूनिटी', और
 उसके बाद 'वर्ल्ड यूनिटी' में, सहायता मिलेगी। पर लिपि एक,
 नागरी, यदि सब प्रान्तों में बरती जाने लगे, तो प्रान्तीय भाषाओं का
 भेद रखते हुए भी एक दूसरे का अभिप्राय समझने में बहुत बड़ी
 सुविधा हो जाय। काशी का हाल तो मैं जानता हूँ कि, वहाँ के सब
 मुसलमान भाइयों की कोठियों में भी बड़ी खाते एक प्रकार की नागरी
 अर्थात् महाजनी लिपि में ही लिखे जाते हैं। महाराष्ट्र तथा के प्रन्थ
 और पत्र सब नागरी लिपि में छपते हैं। और मेरी समझ में तो ऐसा
 आता है कि बंगला और गुजराती तथा उर्दू के अच्छे-अच्छे प्रन्थ यदि

नागरी लिपि में छपें वो व्यापार-रोज़गार की दृष्टि से भी छापने वालों ही की बहुत लाभ होगा, क्योंकि हिन्दी के ही' जानकार भी इनको, बिना अनुवाद के धम के, मूल शब्दों में ही पढ़कर, अधिकांश का अर्थ ग्रहण कर सकने के कारण, खरीदने और इनका प्रचार, जो अब सचछांट की सीमा के भीतर संकुचित है, वह समग्र भारत में फैल जायगा। शास्त्रिण और ज्ञौक की कविताओं के छोटे संग्रह, जो नागरी में छपे हैं, उनकी अच्छी बिक्री है। परम प्रसिद्ध कवि अकबर इलाहाबादी के भी पद्य नागरी अक्षरों में छपे हैं, और हज़ारों प्रतिर्षा हाथों-हाथ बिकी है। इस सम्बन्ध में एक बात और विचारने योग्य है। हिन्दी में जो संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, अङ्गरेज़ी आदि के शब्द लिये जाय वे अपने शुद्ध रूप में बरते जाय, या हिन्दी की बोली के अनुसार उनकी शकल कुछ बदली जाय ? कुछ सभनों का विचार है कि, एक देश को छोड़कर भादमी दूसरे देश में जा बसता है, और अपना पुराना पहरावा छोड़कर उस देश के पहरावे को धारण कर लेता है, सभी उस देश के आदिमियों में मिल पाता है, नहीं तो विदेशी बना रहता है, इसलिये ऐसे शब्दों का रूप भी बदल लेना अच्छा होगा। दूसर कहते हैं कि अगर शकल बदलनी शुरू हुई तो रोज़-रोज़ बदलती ही जायगी, वही स्थिरता न आयगी; और शब्दों की उत्पत्ति का स्थान भी भूल जायगा, और शब्द अर्थ भी बदल जायगा। कहावत है कि—

दस बिगहा पर पानी बदले, दस कोसन पर धानी

और संस्कृत प्राकृत का भेद मुख्यतः इसी कारण से है; संस्कृत के रूप के, विविध मान्दों में, विविध प्रकार से बदलने के कारण, प्राकृतें बहुत-सी उत्पन्न हुईं; और कुछ भी हो गईं; संस्कृत एक ही बनी है। साथ ही इसके, प्राकृत और संस्कृत का अन्योन्याभय सम्बन्ध भी है, बैसा ही, जैसा सांख्य में प्रकृति और विहृति का।

अप्यवत् प्रकृति में जो अनन्य संस्कार लीन हैं, उनका उद्दोषण

की अतिवर्धन होकर, विह्वलता उत्पन्न होती है, और अत्यन्त विनम्रता और भेद दिखता है। फिर, विह्वलता समाप्त की ओर लुप्त होकर, क्रमशः प्रकृति की सामान्यता में प्रतीत हो जाती है। यदि किसी एक विह्वलता की संश्लेष, संश्लेषण, स्वावलम्बन और अन्तर्गत हो जाए, तो वह 'सामान्य-प्रकृति' विह्वलता कुछ दिनों के लिए मिटा हो जाती है। इनको अंतर्गत में 'संश्लेषण-संश्लेषण' कहते हैं।

संश्लेषण में अन्तर्गत होकर तादृशता की प्राप्ति में वृद्ध हो गई है। प्राप्ति का पुनर्गठन होकर संश्लेषण के लिए नवीन शब्द भी मिल सकते हैं।

मनसुख यह कि वेमे विचार वातों का कहना है कि दूसरी भाषा में जिनके हुए शब्दों का स्थान्य सुख रखा जाए तो भाषा स्थिर रहेगी; नहीं तो अन्तर्गत-अन्तर्गत वागमन्त्रिय की बनावट के अनुसार सब ही अनुपपन्न उभरे रहें-बदल करने लगेंगे। कोई कोमल तोलता चाकर चाहेगा, कोई नेत्रस्थी, शानदार, सुस्ता, माक और मस्त्राक।

दूसरी का कहना है कि एक सेना में कई तरह की बर्तनी बेग्न मालूम पड़ती है। सभी तक, दोनों पक्ष के सम्बंध, सुन्दरियाँ लगा ही रहे हैं। सर्व-साधारण की मूत्राण्मा ने कोई निर्णय नहीं कर पाया है। पर अन्तर्गत-साहित्य अधिक बढ़ने पर इसका भी निर्णय हो ही जायगा। जैसा अंग्रेजी में हो गया है। जैसा मुनता हूँ कि बंगाली, गुजराती, मराठी में कुछ-न-कुछ हो गया है। इन तीन भाषाओं को यह सुविधा है, कि इनको फ़ारसी अरबी शब्दों से काम कम है। प्रायः संस्कृत ही का आसरा है। हिन्दी को फ़ारसी अरबी से भी काम है और संस्कृत से भी। तुलसीदास जी ने, जिन्होंने बाबलीकि रामायण को हिन्दी में अनुवाद वैसा किया जैसा व्यास जी ने वेदों का महाभारत के रूप में, 'रजाहरा' का आकार 'रजायसु' कर दिया है। 'आश्रय' का तो 'आसरा' सहज ही है। फ़ारसी-दाँ 'रजाहरा' पर ही जोर देते हैं। संस्कृत के कान को 'आश्रय' ही प्रिय है। सर्व-साधारण को प्रायः रजायसु और

आसरा ही भला लगेगा। मेरा निज का विचार कुछ ऐसा होता है कि लिखे और छपे ग्रंथों के लिए यदि शब्दों के शुद्ध आकार पर जोर दिया जाय, तो साहित्य की स्थिरता बढ़ेगी। बोलने में चाहे थोड़ी झिझक भी रहे। ज़ाहिरा, 'खड़ी बोली' का प्रयोग बढ़ता भी जाता है। यही शकल हिन्दी और उर्दू के मेल की, अर्थात् हिन्दुस्तानी की, होती दीख पड़ती है। मामूली बोल-बाल में तो, जैसे आदमी आदमी की शकल-सूरत में और आवाज़ में फ़र्क होता है, वैसे ही शब्दों में कुछ-म-कुछ होता है और रहेगा। एक घर में बच्चे कुछ और बोलते हैं, स्त्रियाँ कुछ और, पुरुष कुछ और, नौकर कुछ और। एक दूसरे की बात ठीक-ठीक समझ जाय, इतना तो जरूरी है, और जैसे ही जैसे साधना चाहिए; इसके बाद यदि थोड़ा भेद रहे, तो वह भी संसार की विचित्रता के आवश्यक रस में सहायता ही देता है। जब शास्त्रीय विषयों (इस्लामी मज़ाहीन) पर लेख लिखना हो, तब संस्कृतज्ञ ग्रन्थकार अथवा ही संस्कृत से संज्ञा-पद, विशेषण आदि लेगा, और अरबी-फ़ारसी-दी उन ज़बानों से इस्म व सिकत के लज़्ज़ों को। यह फ़र्क, भेद, मिट नहीं सकता; न मिटाने की जरूरत है; जैसे तामिल, तेलगू, गुजराती, मराठी के ग्रन्थ अलग छपते ही हैं, वैसे ही हिन्दी और उर्दू के भी अलग क्यों न बनें और छपें? हाँ, अगर दोनों तरह के लिखने वाले इतना ध्यान रखें और यह उपाय काम में लावें, कि ठेठ संस्कृत शब्द के साथ, 'ब्रैकेट', कोष्ठक में उसका अरबी-फ़ारसी लज़्ज़ के साथ ब्रैकेट में संस्कृत पर्याय रस दिया करें, तो पाँच-पाँच छः-छः सी शब्द, दोनों तरफ़ के, दोनों तरफ़ वालों को अभ्यस्त हो जाय।



: ११ :

राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि

(सेठ गोविन्ददास)

देश के स्वतन्त्र होने तक स्वतन्त्रता हमारा प्रथम लक्ष्य था। इस कार्य के सामने अन्य सारे कार्य गौण थे। देश के स्वतन्त्र होने ही स्वतन्त्र देश के विधान बनाने का प्रश्न हमारे सामने आया। विधान परिषद् के निर्वाचन के परवान् विधान किस भाषा में बने तथा वह देश की किस लिपि में लिखा जाय, देश की राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि कौन-सी हो, ये प्रश्न किसी-न-किसी रूप में विधान-परिषद् के सामने आते रहे हैं। यद्यपि इनका अन्तिम निर्णय अभी तक नहीं हुआ है, पर मैं यह मानता हूँ कि बड़े-बड़े विरोधों के रहते हुए भी हिन्दी हमारे देश की राष्ट्र-भाषा और देवनागरी ही राष्ट्र-लिपि घोषित होगी। एक बात और हो सकती है कि नागरी में लिखी जाने वाली 'भारती' हमारे देश की राष्ट्र-भाषा निश्चित की जाय। यदि यह होता है तो मैं इसका भी इशारा करता हूँ, क्योंकि भारत हमारे देश का प्राचीन नाम है। हिन्द और हिन्दुस्तान नाम तो उन्ने पीढ़े से मिला। हिन्द नाम के कारण भारता का नाम भी हिन्दी हो गया। देश का नाम भारत और भारत देश की भाषा का नाम भारतीय, यह हमारी परम्परा और संस्कृति के अधिक अनुकूल है। हाँ तो मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि का जब तक आदे निर्णय न हुआ हो, पर हिन्दी

या भारती ही हमारी राष्ट्र-भाषा और नागरी ही राष्ट्र-लिपि होगी । यदि और कुछ हुआ तो यह स्वाभाविक न होकर अस्वाभाविक होगा और कोई अस्वाभाविक वाऽ स्थायी नहीं हो सकती ।

अंग्रेजी इस देश की राष्ट्र-भाषा हो नहीं सकती । लगभग दो सौ वर्षों के अंग्रेजी राज्य के जाने के उपरान्त इस देश के कितने प्रतिशत लोग अंग्रेजी जानते हैं ? हिन्दुस्तानी कोई भाषा है ही नहीं । उसका न कोई व्याकरण है, न साहित्य । जिस भाषा का अस्तित्व ही नहीं वह राष्ट्र-भाषा कैसे बनाई जा सकती है ? अंग्रेजी की 'कनसाइज़ आक्सफर्ड डिक्शनरी' में हिन्दुस्तानी को मुग़ल विजेताओं की भाषा कहा है । हिन्दुस्तानी कही जाने वाली भाषा में बाज़ारों में बोले जाने वाले शब्दों के अतिरिक्त वैज्ञानिक और शास्त्रीय शब्दों का न निर्माण हुआ है और न हो सकता है । साधारण पढ़ाई-लिखाई भी या तो अंग्रेजी भाषा में हो सकती है या हिन्दी में या उर्दू में; हिन्दुस्तानी में नहीं ।

कगदा हिन्दुस्तानी नाम का नहीं है, कगदा है हिन्दुस्तानी नाम में जो अर्थ निहित हो गया है उसका । हिन्दुस्तानी का अर्थ वह भाषा है जिसमें इतने प्रतिशत शब्द संस्कृत, इतने फारसी, इतने अरबी के हों, फिर वह नागरी और अरबी लिपियों में लिखी जाने वाली भाषा है । कुछ महानुभावों का मत है कि भाषा का नाम हिन्दुस्तानी रखा जाय, पर वह एक ही लिपि नागरी में लिखी जाय, किन्तु भाषा केवल लिखने की न होकर बोलने की भी वस्तु है । "यदि नागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दुस्तानी राष्ट्र-भाषा घोषित हो तो भी उसमें कितने प्रतिशत शब्द किस भाषा के रहेंगे, यह प्रश्न उठेगा और रेडियो आदि में जहाँ भाषा लिखी न जाकर केवल बोली जाती है, सदा एक कगदा मचा रहेगा, जैसा आज मचा है ।

जो लोग हिन्दुस्तानी का विरोध करते हैं, वे किसी साम्प्रदायिक भावना से ऐसा करते हैं, यह मैं नहीं मानता, वरन् मैं तो यह कहता हूँ कि हिन्दुस्तानी का समर्थन करने वाले उसका समर्थन साम्प्रदायिकता

की भाषा में करते हैं। जो देश में एक संस्कृति चाहते हैं वे सजा दो लिपियों में लिगी जाने वाली भाषा का समर्पण कैसे करेंगे ?

हिन्दी का राष्ट्र-भाषा होना इंगलिष् स्वामारिक नहीं है कि वह अन्य प्रान्तीय भाषाओं में श्रेष्ठ है। हम अन्य प्रान्तीय भाषाओं की भीषा और हिन्दी को उनमें ऊँची नहीं मानते। हिन्दी का राष्ट्र-भाषा होना इंगलिष् स्वामारिक है कि कुमायूँ से मेरठ बस्तर तक और जैसलमेर से बिहार के पूर्वीय छोर के अन्तिम प्राय तक हिन्दी ही लोगों की भाषा है। उसे इन देश की तीस करोड़ में से अठारह करोड़ जनता बोलती और बोलने की ममम्ती है। संयुक्त-प्रान्त, बिहार, महाराष्ट्र, कौशल, राजस्थान, मध्यभारत, विन्ध्य प्रदेश, पूर्वी पंजाब, हिमाचल-प्रदेश की भाषा हिन्दी है। दक्षिण भारत में भी इसका प्रचार अत्यन्त शीघ्रता से हो रहा है।

राष्ट्र-भाषा और प्रान्तीय भाषाएँ—राष्ट्र-भाषा हिन्दी और राष्ट्र-लिपि देवनागरी हो जाने का कोई यह अर्थ न समझे कि हम अन्त-भिन्न प्रांतों की प्रांतीय भाषाओं का गला घोटना चाहते हैं। विदेशी राज्य ने विदेशी भाषा को हमारे देश पर जाद, उसी को हमारी शिक्षा का माध्यम, हमारी धारा-सभाओं और न्यायालयों की भाषा बना हम पर जो घोर अत्याचार किया था, ऐसी कोई धान करने की कल्पना तक हम नहीं कर सकते। जिन प्रांतों की भाषा हिन्दी नहीं है, जैसे बंगाल, आसाम, उड़ीसा, महाराष्ट्र, गुजरात, तामिल, अन्ध्र, कर्नाटक, मलयालयम आदि उन प्रांतों में हम शिक्षा का माध्यम हिन्दी भाषा को नहीं बनाना चाहते, न वहाँ की धारा-सभाओं और न्यायालयों में हम हिन्दी को चलाना चाहते हैं। अहिन्दी प्रांतों की शिक्षा का माध्यम, वहाँ की धारा-सभाओं और न्यायालयों की भाषा प्रांतीय भाषा ही रहे। हाँ, केन्द्रीय तथा अन्तर्प्रान्तीय सारे कार्य राष्ट्र-भाषा हिन्दी में ही होने चाहिएँ और केन्द्रीय तथा अन्तर्प्रान्तीय सारे कार्य सुचारु रूप से चल सकें इसके लिएँ समूचे भारत में राष्ट्र-भाषा की शिक्षा

भी अनिवार्य होना चाहिए। हम इस बात के लिए भी प्रस्तुत हैं कि दक्षिण भारत तथा अन्य अहिन्दी प्रांतों के अपने भाइयों की सुविधार्थ केन्द्र में भी हिन्दी के साथ-साथ कुछ समय के लिए अंग्रेजी का अस्तित्व रख लिया जाय। देश की सर्वांगीण उन्नति के लिए राष्ट्रमाया और प्रांतीय भाषायों दोनों का समान महत्त्व है, और दोनों की समान उन्नति आवश्यक है।

राष्ट्र-भाषा और अंग्रेजी—अंग्रेजी भाषा से भी हमारी कोई शत्रुता नहीं। देश के बाहर की बातों के ज्ञान तथा अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए हमें अंग्रेजी का सहारा लेना ही होगा। इन कार्यों के लिए अंग्रेजी के अतिरिक्त हम और कितनी भाषा का आश्रय नहीं ले सकते।

राष्ट्र-भाषा और उर्दू—उर्दू और हिन्दी का कैसा सम्बन्ध रहेगा इस पर भी कुछ कह देना आवश्यक जान पड़ता है। उर्दू भाषा से भी हमारा कोई द्वेष नहीं। हम उर्दू भाषा और उसके साहित्य का सम्मान करते हैं। वह इस देश में जन्मी और वहीं पनपी है। हम तो उसे हिन्दी की ही एक शैली मानते हैं। परन्तु मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि यहाँ जन्म लेने और पनपने वाली उर्दू भाषा या साहित्य मुसलमानों को एक पृथक् समुदाय बनाये रखने में सहायता देता रहा है। उर्दू के साहित्य में हिमालय का वर्णन न होकर कोहकाफ़ का वर्णन होता है। वह साहित्य कोयल के स्थान पर बुलबुल को ही महत्त्व देता है। उसके धीरे भीम, अर्जुन न होकर रस्तम आदि हैं। वह दधीचि और शिवि को छोड़ हाकिम की उदारता का वर्णन करता है। हमारे मुसलमान भाइयों के मन में पार्थक्य की भावना है, भारतीय संस्कृति से अलग अपनी संस्कृति को रखने के विचार हैं, उसमें सदा उर्दू और उसके साहित्य ने सहायता पहुँचाई है। पार्थक्य की इस भावना ने ही तिराहू सिद्धांत को जन्म दिया, जिसके कारण देश का विभाजन हो गया। भारत में रहने वाले मुसलमान भाई यदि अपने को अन्य भारतीयों से अलग मानेंगे तो इस देश पर अविष्य में अनेक ऐसी आपत्तियाँ

या मक्की है जिसकी आज हम बनाना भी नहीं कर सकते। हिन्दू धर्म ही गारे भारतीयों का धर्म नहीं है। दो धर्मों को मानने वाले भी एक कुटुम्ब में रहते हैं। पञ्जाब में एक ही कुटुम्ब में हिन्दू-मिथ रहते हैं। राजस्थान में भी प्रायः एक ही कुटुम्ब में वैष्णव और जैन रहते हैं। क्या वेगल रिषति नहीं या मक्की जब एक ही कुटुम्ब में एक व्यक्ति हिन्दू और दूसरा मुसलमान रहे ? हमारे पश्चिमी देश चीन और रूस में जब यह बात है तब भारत में क्यों नहीं हो सकती ? चीन और रूस में बौद्ध, ईसाई तथा मुसलमानों के धर्म गृह-गृह होने पर भी उनको संस्कृति गृह-गृह नहीं है। उनके नामों तक से इस बात का पता नहीं लगता कि कौन किस धर्म को मानता है। हम चाहते हैं कि पार्थक्य की इस भावना को त्याग कर मुसलमान भारतीय संस्कृति को अपना कर इस देश के अन्य निवासियों में घुल-मिल जाय। वे भी हिन्दी भाषा को अपना लें। महाराष्ट्र, बङ्गाल, आन्ध्र, उड़ीसा, गुजरात, तामिल, आंध्र, कर्नाटक, मलया में रहने वाले मुसलमान इन प्रांतों की भाषाओं को ही बोलते और लिखते हैं। कुछ दिन पहले जब साम्प्रदायिकता का ऐसा दौर-दौरा नहीं था तब इन प्रांतों के मुसलमानों में उर्दू का प्रचार न था, और हमारे हिन्दी-भाषी मध्य-प्रांत के मुसलमान हिन्दी में ही सारे कार्य करते थे, अधिकांश उर्दू जानते तक न थे। प्राचीन समय में अनेक मुसलमानों ने हिन्दी भाषा को अपना कर उसमें उत्तम-उत्तम रचनाएँ की हैं। कबीर, जायसी, रहीम, रसखान, आदि-आदि का नाम हिन्दी के इतिहास में सदा घमर रहेगा।

गत कुछ वर्षों से साम्प्रदायिकता के कारण उर्दू भाषा का एक विशेष प्रकार से प्रसार किया जा रहा है। जैसा मैंने अभी कहा हम उर्दू के विरोधी नहीं हैं, पर जिस पार्थक्य की भावना से उर्दू का यह प्रसार हो रहा है, उसका कम-से-कम मैं घोर विरोधी हूँ।

राष्ट्र-भाषा का भावी स्वरूप—भाषा के नाम और लिपि के प्रश्न के साथ ही हमारी राष्ट्र-भाषा कैसी हो, यह प्रश्न भी हमारे सामने

है। हमारी भाषा ऐसी होनी चाहिए जो सरल-से-सरल हो; जिसे सहज में सब लोग समझ सकें। परन्तु जहाँ एक ओर भाषा की सरलता की ओर हमारा ध्यान रहना चाहिए, वहाँ दूसरी ओर हमें इस बात पर भी ध्यान रखना होगा कि हमारी भाषा में उपयुक्त शब्दों का प्रयोग हो, जो सूक्ष्म अर्थ का भी यथावश्यक बोध करा सकें। वैज्ञानिक और शास्त्रीय ग्रन्थों अथवा लेखों की भाषा बहुत सरल नहीं हो सकती। लिखित साहित्य में भी कहानी, उपन्यास एवं नाटक की भाषा 'जितनी सरल हो सकती है उतनी कविता की नहीं। यदि वैज्ञानिक और शास्त्रीय भाषा को हम सरल बनाने का प्रयत्न करेंगे तो भाषा में यथावश्यक बोध की शक्ति नहीं आ सकेगी। और यदि कविता में भी अत्यधिक सरलता लाई जायगी तो उसका भाषा-सौष्ठव नष्ट हो जायगा। हमारी भाषा में जो शब्द बाहरी भाषाओं के आणव हैं उनका बहिष्कार हमें नहीं करना है, वरन् हमें तो अन्य भाषाओं के और शब्द भी ग्रहण करने के लिए तैयार रहना चाहिए। आज जो अंग्रेजी भाषा इतनी उन्नत है उसका प्रधान कारण यही है कि उसने अपने शब्द-बोध को अन्य भाषाओं के शब्दों से समृद्ध किया है। नारमन लोगों की जीत के समय अंग्रेजी भाषा की क्या स्थिति थी और धीरे-धीरे उसकी धो-वृद्धि कैसे हुई, इसे हम देखें। हाल ही में आयरलैंड में गेलिक भाषा का किस प्रकार उत्थान हुआ इसका अवलोकन करें। परन्तु इसी के साथ अपनी भाषा के उद्गम और गठन को देखते हुए हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि हम नये शब्दों के निर्माण में प्रधानतया संस्कृत से ही सहायता ले सकते हैं। फिर तामिल के सरल एक दो प्रान्तीय भाषाओं की छोड़ देय हमारी सभी प्रान्तीय भाषाओं की जननी संस्कृत ही है। संस्कृत से शब्द लेने पर हम अन्य प्रान्तीय भाषाओं के भी अधिक समीप रह सकेंगे।

संस्कृत की शब्द-सरिता भारतवर्ष की सभी साहित्यिक भाषाओं का पोषक करती है। उसकी उपमाओं, उल्लंघनों, अभिध्वज्जनाओं

और गृहियों ने भारत की प्रत्येक भाग की सांस्कृतिक पद्धत की प्रतीक में हमने प्राचुर्य से प्रयुक्त हुए हैं कि वे भी भेद करना बर्जित हो जाता है। उदाहरण-सम्राट् भी स्वोच्छ्रमण राष्ट्र की "गुरुदत्त प्रार्थना" शीर्षक कविता की

अपार मुषन, उदार गगन, श्याम वसन्त अति सुगन्ध मूर्ति, विविध-ररण मान्द्यनीरद प्रहृतारा विचित्र शोभा शस्य क्षेत्र प्रमा सुनील गगने घनतर नील अति दूर तारि परपारे रविर उदय कनक-चक्रिन-तद्वित मघन धरणा पूर्ण शरत् आकारो असीम विकास व्योम

इसे कौन कह सकता है कि यह हिन्दी की कवि-स्यक्तों पर बंगला के प्रत्ययों और विभिन्न विद्वानों द्वारा ही नहीं, बल्कि भारत भी इसे अपनी कविता है।

राष्ट्र लिपि-हमारी देवनागरी इस देश की ही नहीं बल्कि विश्व में सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है। हमारी लिपि में का-ईसा वैज्ञानिक प्रयुक्करण है वैसा अन्य लिपि में, उच्चारण हर स्थान पर 'अ' ही होगा और 'इ' का ही लिखा जायगा तो वह 'क' ही पढ़ा जायगा और 'ग' में जिस प्रकार 'बी यू टी' बट का 'यू' 'अ' पढ़ा 'ग' 'उ' का 'यू' 'उ' वैसा हमारी लिपि

हैं वैसे हमारे यहाँ नहीं। उद् में अक्षरों को मिलाकर लिखने और तुकड़ों के कारण उसके पढ़ने में जो अक्षरों आती हैं वे हमारी लिपि में नहीं। हर विषय की सिद्धा हमारी लिपि के द्वारा जितनी सुगमता से दी जा सकती है उतनी अन्य किसी लिपि के द्वारा नहीं। फिर हमारी लिपि संस्कृत लिपि होने के कारण अन्य प्रांतीय भाषाओं की लिपि के मिलने सम्भव है, उतनी अन्य कोई लिपि नहीं। मराठी में तो इसी लिपि का उपयोग होता है, गुजराती लिपि और हिन्दी लिपि में भी अधिक अन्तर नहीं और बंगला लिपि के भी अधिकांश अक्षर भाषरी लिपि से मिलते-जुलते हैं। इतना ही नहीं, बर्मा, सिङ्गल, मलाया, रयाम, हिन्देशिया और हिन्द चीन आदि की वर्णमालाएँ भी प्रायः हमारी वर्णमाला के ही समान हैं। फिर भी आधुनिक संकाल में उसमें थोड़े-बहुत सुधारों की आवश्यकता है। विशेषज्ञों की राय से हमें इन सुधारों को अक्षर्य स्वीकार कर लेना चाहिए। इस दिशा में हम संकुचित वृत्ति न रखें। हमारी भाषा और साहित्य में निर्माण का कार्य हमें तेजी से अक्षर्य चलाना है, और जीवित भाषा में भाषा के लिए स्वच्छन्दता की भी आवश्यकता है। स्वच्छन्दता में अक्षर्य अक्षरते हैं तथापि कुछ-न-कुछ नियंत्रण भी आवश्यक होते हैं। इस क्षेत्र में हमें बहुत सूक्ष्म अनुसंधान की और तो न जाना चाहिए, किन्तु भाषा के रूप के सम्बन्ध में विद्वानों को एकत्रित हो कुछ-न-कुछ निश्चय कर लेना आवश्यक है।



राष्ट्र-भाषा का स्वरूप

(श्री वियोगी हरि)

मैं हिन्दी को, उसके प्रचलित रूप में, राष्ट्र-भाषा और भागी लिपि को राष्ट्र-लिपि मानता हूँ। मेरी इस मान्यता में शुद्ध और पूर्ण राष्ट्रीय दृष्टिकोण रहा है। जहाँ तक हिन्दों के बोलने का सम्बन्ध है, विभिन्न हिन्दी-भाषी प्रदेशों में भी उसके अनेक रूप प्रचलित हैं। लिखी भी वह कई शैलियों में जाती है। एक शैली उसकी उद्भूति भी है, जिसका चयन विशिष्ट जनों में पाया जाता है स्पष्ट है कि हमने इस विशिष्ट शैली को बहिष्कृत नहीं किया; ऐसा करने की हमारी कभी मग्ना भी नहीं। किन्तु सम्मेलन ने हिन्दी को उसी साधारण शैली को राष्ट्र-भाषा माना है, जिसमें कबीर, रैदास, जायसी, तुलसी, मूर, मीरा, गुरु नानक, रहीम, रामानन्द, हरिचन्द्र, मैथिलीशरण, प्रसाद, पंत आदि कवियों और संतों ने, तथा राजा शिवप्रसाद, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द्र आदि लेखकों ने राष्ट्र के विचारों और भावों को, भिन्न-भिन्न कालों और अलग-अलग परिस्थितियों में, स्वाभाविक रीति से व्यक्त किया है। वे सब मूल्यों एक ही अर्थ में मूल में विरोध नहीं हैं। भारतीय राष्ट्र की स्वातन्त्र्य भावनाओं को व्यक्त करने की समता रखने वाली संस्कृत और प्राकृत-सूक्त भाषाएँ ही सदा से रही हैं। और हिन्दी ने तो इन रूपा में

सबसे अधिक काम किया है। राष्ट्रीय चेतना को जगाने और फैलाने में वह सबसे अधिक समर्थ भाषा सिद्ध हुई है, इसमें कोई सन्देह ही नहीं।

हमारे देश में भाषा कभी वाद-विवाद का विषय नहीं बनी थी। उस पर कभी राज-सत्ता का शंकुश नहीं रहा। मुस्लिम शासन-काल में भी राज-भाषा फारसी उसके फलने-फूलने में दखल नहीं दे सकी। राज-भाषा जोरु-इदय और जोरु-मल्लिक पर थोड़े ही शासन कर सकती है ? यह अलग बात है कि हमारे कवियों और लेखकों ने फारसी और तुर्की के अनेक शब्दों को सद्भाव से, सहज रीति से, ग्रहण कर लिया। हमारी भाषा में वे घुल-मिल गए, रच-पच गए। इसमें कोई साम्प्रदायिक या राजनीतिक दृष्टि नहीं थी। यह अंगीकार तो 'अव्यय-साधन' हुआ। इस धीरे के भीतर, अनजाने, प्रेम की भावना काम करती थी। वे यह सोच-सोच कर नहीं लिखते या कहते थे कि असुख शब्द को इसलिए लेना ठीक नहीं कि उसे असुख जन-समुदाय नहीं समझ सकेगा। यह भी समझे और वह भी समझे, बल्कि शब्दों के बंटवारे में हम काफी उदार भी समझे जायें—इस नीयत से हम लिखेंगे और बोलेंगे, तो वह भाषा स्वभाव-सरल न होकर बना-बटो हो होगी। भले ही हमारी मन्था भाषा को सरल या आमकृहम बनाने की हो, पर अपने इस अस्थाभाविक प्रयत्न में हम सफल नहीं हो सकेंगे। दो विभिन्न भाषाओं के समानार्थक शब्दों को एक साथ रखने से भी भाषा के आमकृहम बनाने का प्रयत्न हल नहीं होगा। साम्प्रदायिक ऐक्य-साधन की धुन में भाषा को जान-मानकर बिगाड़ना किसी भी दृष्टि से समीचीन नहीं। बे-मेल शब्दों को कान उमेठ-उमेठकर अवरदस्ती ऐसी जगह बिठाना, जो उनके लिए मीठ न हो, एक व्यर्थ का ही प्रयास है। क्या कभी इस तरह सरल, सुषोष और सामान्य भाषा बनी है ? इस फेर में पढ़कर भाषा को—हिन्दी को भी और उर्दू को भी—अस्वाभाविक और असुन्दर क्यों बनाया जा रहा

है ? भाषा भाषा तो हमारा से ही सुन्दर होती है । जिस भाषा में, जिस शैली में गीन्दर्व नहीं, खोब नहीं, चमकदार नहीं, वह खोब-दरप को कैसे आट्ट कर सकती है ?

कबीर ने भाषा को बढ़ाया भी कहा है । प्रवाद मद्भक्त चर्चार् 'अपान-गाधिन' होता है । हमें हम बात को भी तो ध्यान में रचना चाहिए कि हम किस प्रकार की भाषा या शैली द्वारा क्या कहना और निरूपण चाहते हैं । भाषा और शैली दोनों विषय-विशेष का अनुसरण करनी है । विषय की वषष्ट व्यंजना खंखर या शब्दा के यथायुक्त जान पर निर्भर करती है । कबीर ने और उनकी कोटि के परदर्शी संतों ने सरल-मे-सरल भाषा में अप्यात्म के ऊँचे और गहरे विद्वान्तों का सङ्गठन पूर्वक निरूपण किया है । पर उनका अनुकरण हीन करे ? वे तो भाषा के अधिनायक थे, भागों के सम्राट् थे । उनकी निपट सरल-मद्भक्त भाषा उस महारस की अन्द्री गगर है, जिसे उन्होंने जीवन को मद्भक्त साधना से भरा था । पूज्य गांधीजी को भी हिन्दी ऐसी ही स्वभाव-सरल होती थी । वे भाषा के नियमों का भंग जान-बूझकर नहीं करते थे । अगर उनके 'हरिजन-सेवक' की वर्तमान हिन्दी—नहीं, नहीं, हिन्दुस्तानी को जरा ध्यान देखें । उसमें हिन्दी का बे-मेल गठ-बंधन किस मौद्रिक के साथ किया जा रहा है ! हिन्दुस्तानी के नाम पर हिन्दी और उर्दू का यह भद्दा परिहास अच्छा नहीं ।

यदि समन्वय के विचार से राष्ट्र-भाषा को बिलकुल नये सचि में ढाढा आ रहा हो, तो मुझे इतना ही कहना है कि समन्वयीकरण में भाषा की मूल प्रकृति का हमें पूरा ध्यान रखना होगा । यह व्याख्या कोई खास मानी नहीं रखती कि हमें ऐसी ज़बान में लिखना चाहिए, जिसमें न संस्कृत के कठिन शब्दों की अधिकता हो और न अरबी-फारसी के मुश्किल लफ्ज इस्तेमाल किये जायें, और जिसे सर्व-साधारण समझ लें । विषय को देखते हुए हम जान-मानकर कठिन शब्द नहीं रखेंगे, पर सम्भव नहीं कि हमारी भाषा में यथास्थान संस्कृत के वल्लभ

तथा उद्भव शब्द प्रचुरता से उपयोग में न लाये जायें । विदेशी भाषाओं के जो शब्द हमारे नित्य के व्यवहार में आते हैं और सुलभ-मिष्ट गण हैं वे हिन्दी में हमेशा ऊँचर का स्थान पार्यंगे, आवश्यकता-नुसार निर्वाच-रूप से हम नये शब्दों को भी सपाते रहेंगे । इतना ही नहीं, राष्ट्र-भाषा को अधिक समृद्ध बनाने के विचार से भिन्न-भिन्न जनपदों और प्रांतों के बहु-अर्थगर्भित समर्थ और सुन्दर शब्दों का भी हम उसमें समावेश करेंगे । समन्वय का मैं भी विरोधी नहीं, प्रेमी हूँ । किन्तु समन्वय वैसा, जैसा राग में भिन्न-भिन्न स्वरों का । प्रत्येक राग का, उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार, बंधा हुआ सरगम होता है । इस स्वर को यहाँ इतना स्थान मिला है, तो उस या उन स्वरों को यहाँ उतना ही मिलाता चाहिए, अथवा यह स्वर मध्यम जगाया गया है, तो यह भी मध्यम ही जगाना चाहिए—यदि इस न्याय-नीति को छेड़ कर आप सरगम की पुनर्रचना करने बैठेंगे तो उससे कौन-सा राग बनेगा ? इस नीति से मजा कभी सामंजस्य सिद्ध हुआ है ? यही बात भाषा के सम्बन्ध में भी है । जिस प्रयत्न द्वारा हमारी भाषा की प्रकृति का अंग-भंग होजा हो, उसे असुन्दर और विरूप बनाया जाता हो, उस प्रयत्न का चाहे जो नाम दिया जाय, पर उसे समन्वय या सामंजस्य का प्रयत्न नहीं कहा जा सकता । असली सिर काटकर उसकी जगह बकरे का सिर धिपका देने से दूध प्रजापति को जो राख बनी थी उसे देखकर तो भगवान् दूध भी खिन्नखिन्नकर हँस पड़े थे । उस विचित्र आकृति को पर और अजा का समन्वय कहने के लिए क्या आप तैयार हैं ? इस प्रकार के असामंजसपूर्ण दृष्टिम प्रयत्नों से न कभी समन्वय हुआ है और न होगा ।

अप्या तो यह होना कि हिन्दी और उर्दू को अपने-अपने रास्ते बहने और फैलने दिया जाय । बिना किसी बाहरी अतन के, पहचने की तरह, आपस में अपने-आप दोनों अनठठाये आदान-अदान क्यों न करती रहें ? राष्ट्र के विचारों और भावों को स्पष्ट करने की जिसमें जितनी

अधिक सामर्थ्य होगी वह उतने ही बड़े जन-समूह को स्वयं अपनी ओर खींच लेगी। उद्यान में अगर सभी फूलों को अपने-अपने रस में मग्न करने दें। एक पेड़ का फूल तोड़कर दूसरे पेड़ की टाखी पर न सौंसेते फिर भ्रमर किन फूलों पर जाकर बैठते हैं और किन पर नहीं, इस स्वयं की चिन्ता में न पड़ें—यह पसंदगी तो आप कृपा करके रस-आही भ्रमरों पर ही छोड़ दें। प्रकृत रसिकों के आगे गिने-बुने फूलों के गुब्बदले सजा-सजाकर न रहें।

तब तो शायद इसका अर्थ हुआ कि हमें भाषा के क्षेत्र में किसी भी प्रकार का सुधार, प्रयत्न और प्रचार नहीं करना चाहिए। नहीं, मेरा यह आशय कदापि नहीं। प्रयत्न और प्रचार हम अवश्य करें, पर वह शुद्ध रचनात्मक हो, अकृत्रिम हो और भाषा-विज्ञान के नियमों से असम्बद्ध न हो। यदि हमारे प्रचार का आधार समर्थ साहित्य का निर्माण होगा, तो फिर विवाद या शंका के क्षेत्र स्थान ही नहीं। रचनात्मक अर्थात् प्रेम-मूलक प्रयत्न और प्रचार से हम विभिन्न मारगों में सही और स्वाभाविक समन्वय सिद्ध कर सकेंगे। और तभी, मजिद मुहम्मद जायसी को इस सलाही का अर्थ भी हृदयंगम हो सकेगा—

तुरकी, अरबी, हिन्दुई, भाषा जेती आहि ।

जेहि मैह मारग प्रेम का सबै सराई वाहि ॥

मगर 'प्रेम के मारग' का, सन्तों और सूक्तियों के बड़े निर्मल-घाट का वहाँ दर्शन करेंगे वहाँ हम अन्तर के आमने-सामने बोझों वाली सहज भाषा का सहारा लेंगे। शास्त्रीय गम्भीर विषयों के क्षेत्र में हम दूसरी ही भाषा और शैली का प्रयोग करेंगे। इसी दर्शन और विज्ञान की भाषा भी भिन्न होगी। अपने विषय-आर्थों को स्पष्ट, परिष्कृत और सुन्दर ढंग से प्रकट करने की व-कहीं हम संस्कृत के वाचस्पत्य शब्दों का उपयोग करेंगे, वही व-शब्दों को काम में लायेंगे और वही देशज और अल्प भाषा

न्दी को स्थान देंगे। ऐसा होगा हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी का स्वरूप, फिर यह रूप निर्धारित भी हो चुका है।

राजनीतिक और साम्प्रदायिक प्रश्न हमारी भाषा पर दबाव नहीं डाल सकेंगे। उस पर राज-शासन नहीं चल सकेगा; उल्टे, उसके प्रभु राष्ट्र को जमाने और उल्टा देने की शक्ति होगी। यह शक्ति तीव्र-रूप से हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी के अन्दर विद्यमान है। राष्ट्र की भावनाओं को जगाने और एक छोर से दूसरे छोर तक फैलाने में हिन्दी का सबसे अधिक हाथ रहा है। फिर हिन्दी को किसी खास सम्प्रदाय की भाषा कहने का कौन साहस करेगा? हिन्दी का उद्गम से न पैर है, न उससे कोई भय। वह तो उसकी ही अपनी एक विशिष्ट शैली है। कब की हिन्दुस्तानी से भी उसे कोई सटका नहीं, न हिन्दुस्तानी नाम से ही उसे चिढ़ है। यदि हिन्दुस्तानी नाम से भाषा के उसी स्वरूप को ग्रहण किया जाता हो जिसे कि हम आज राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार कर रहे हैं, तो हिन्दी का 'हिन्दुस्तानी' नामकरण करने में हमें सन्देह नहीं होगा, यद्यपि तथा नामकरण-विज्ञकुल व्यर्थ है। प्रश्न तो असल में भाषा के स्वरूप का है।

एक राजत प्रचार—भारत के उन सभी भागों में, अस्तित्व दक्षिण में, जहाँ हिन्दी पूर्ण रूप से बोली नहीं जाती, कुछ दिनों से यह भ्रामक मत फैलाया जा रहा है कि शुमाली याने उत्तरी हिन्दुस्तान में यह ज़बान खूब बोली और बरती जाती है जो न हिन्दी है न उर्दू, फिर भी जो हिन्दी और उर्दू की मिजावट से 'बनी है'—उसे वहाँ हिन्दुस्तानी कहते हैं और वही वहाँ की आम-प्रहम भाषा है। एक हिम्मेदार सज्जन ने तो वहाँ तक कह करवा कि हमारे लिए तो संस्कृत-मिष्ट हिन्दी और पारसी-फारसी के अक्षरों से बनी उर्दू से दोषों अज्ञानी हैं। एक उक्तोत्तर में यह भी कहा को राष्ट्र-भाषा मान रहा है उसमें परत नहीं दिख रही है। अकर

दस्ती शैमियत ज़ायम करने के लिए भारत राष्ट्र का सम्बन्ध देने की तैयारी हो रही है। इसके लिए कुछ ऐसे विद्वानों का स्वागत भी हो गई है, जिन्होंने ज्ञान या अनुमान में ऐतिहासिक सांस्कृतिक तथ्यों की तोड़-फोड़ की है और कुछ नये आविष्कार किये हैं। भारत-विज्ञान के विद्वानों के मतों की उपेक्षा की हिन्दी भाषा तथा साहित्य के हितदाय के पन्ने उखटने की भाँति नहीं समझी गई। चूंकि उदरेय ज़बरदस्त शैमियत का का रहा है, इसलिए हममें स्वभावतः प्रायः ऐसे परिवर्तन सहयोग प्राप्त किया गया है, जो राजनीतिक सम्झौतों और बल पर साम्प्रदायिक एकीकरण की सम्भावना में विरवायु इसी हेतु को साधने के लिए नये-नये तरीकों द्वारा तरह-तरह किया जा रहा है। कहीं-कहीं प्रचार करने पर भी प्रचार साथ पर पर्दा नहीं डाल सकता कि "भारतवर्ष का भारत-पश्चिमो हिस्सा प्रकृति से ही संस्कृत राष्ट्रों को समझ सकता है। हिन्दी की शरीर-रचना में संस्कृत के लक्षण और तत्त्व का रहना स्वाभाविक है; उन्हें बह छोड़ नहीं सकती। उस संस्कृत-निष्ठता पर आज आक्षेप किया जाता है वही उस आकाशवाणी का मूल कारण है। सम्मेलन के पूना-अधिवेशन में सिद्ध विद्वानों के लक्ष्य ने यह बिलकुल सही कहा था कि "भारत-हिन्दी के बीच जो नाता पहले से है वह तो संस्कृत का ही है" हिन्दी को 'संस्कृत-निष्ठ' कहना ही शक्य है। हिन्दी ही है।

हिन्दी की विशिष्ट शैली उर्दू को जो सीसना सीसों। हमारी उनके साथ कोई बहस नहीं। उर्दू के कितने ही अच्छे सुराबदार फूल चुने जा सकते हैं। उर्दू को नौन मना करण है ? यदि बने तो फारसी-साहित्य का

कर सकते हैं। हमारा किसी भी भाषा और उसके साहित्य से विरोध नहीं। किन्तु संस्कृत-मूलक या संस्कृत-युक्त भाषा-भाषियों पर उर्दू को और हिन्दुस्तानी के नाम से परिचित उर्दू कौमी ज़बान को, जो उर्दू का ही एक भद्र रूप है, खारा नहीं जा सकता। मेरी प्रार्थना है कि हमारे सम्मान्य मित्र कृपाकर अहिन्दी-भाषी प्रांतों में स्वयं धम न फैलायें, बुद्धि-भेद पैदा न करें। यह मुझे विश्वास है कि देश में शुद्ध राष्ट्रीयता के विकसित होते ही इस और ऐसे ही हमारे भ्रमों का निवारण अपने-आप हो-जायगा। सूर्य-मण्डल की कोड़े का चोंचल भास्त्र कब तक दिपाये रखा सकता है ?

हिन्दी और हिन्दुस्तानी के इस अग्रिम धाद-विचार पर, पक्ष और विपक्ष में, हृष्य बहुत-कुछ कहा और लिखा गया है। मेरे विद्वान् मित्र भद्रन्त आनन्द कौरास्वायण ने समय-समय पर राष्ट्र-भाषा हिन्दी के पक्ष का खाला ठक-संगत और शिष्टापूर्ण समर्थन किया है। अन्य विद्वान् लेखकों ने भी अपने-अपने ढंग से हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी पर कई खोज-गूँथ खेस लिखे हैं। किन्तु घरेलू विवाद में कमी-कमी कुछ कटुता-सी देखने में आई है। यह हमारे लिए शोभा की बात नहीं है। आपस के ऐसे विचारों में शीख-मर्बादा का हमें पूरा ध्यान रखना है। गाँधी जी ने राष्ट्र-भाषा हिन्दी की अनुपम सेवा की है। सम्मेलन उनका सदा अच्छी रहेगा। आत्र दुर्भाग्य से भाषा के धरत पर हमारा उनके साथ मत-भेद हो गया है। मत-भेद प्रकट करते समय हमारी ठक-शोखी और भाषा में अविभक्त नहीं आनी चाहिए। हमें यह न भूलना चाहिए कि गाँधी जी के त्याग-पथ का सर्व सम्मेलन का परि-त्याग नहीं है। उर्दू के छात्रों में, उनके सम्मेलन से निकलने का सर्व 'सम्मेलन को अर्थात् हिन्दी की अधिक सेवा करना था।' सम्मेलन के विपक्षे एक अन्वेष भी कईपाछाड मु की 'उ' 'र'ों से मैं सदमव कि "सम्मेलन और गाँधी" का पाठ्यपत्र

उदात्तता से अनुसरण करें । राष्ट्र-भाषा विषयक प्रश्न के सम-
 त्रिपु - दूट घटा, उल्साह और त्याग की आवश्यकता है ।

विधान-परिषद् के सदस्यों से—राष्ट्र-भाषा हिन्दी का
 विधान-परिषद् से इस अंतिम अधिवेशन में आज भाषा का
 सामने विचारार्थ उपस्थित है । यह कुछ अद्भुत और दुःसह
 कि हमारा राष्ट्र अपनी प्रकृति-सिद्ध भाषा का निर्णय राष्ट्र-
 विधान बनाने वाले पंडितों के द्वारा कराने जा रहा है । राष्ट्र-
 हिन्दी के पक्ष में तथा विपक्ष में काफी से अधिक लिखी और क-
 लुका है । स्वयं भाषाओं को छोड़कर यदि हम केवल भाषा-विज्ञान
 दृष्टि से विचार करें, तो हिन्दी का पक्ष निर्विवाद और विजयकुण्ड
 है । यह प्रश्न न तो राजनीतिक है, न साम्प्रदायिक । भारतीय भाषाओं
 के कारण निरसन्देह निरन्तर हिन्दी का सम्बन्ध स्थापित
 रहा है ।

भारत के सर्वाधिक प्राणों तथा जनपदों की भाषाएँ और भाषा-
 बंधोंके संस्कृत और प्राकृत-गुणक हैं, अतः सम्बन्धीय हिन्दी भाषा
 भाषा उन्नतता निरन्तर का सम्बन्ध होना स्वाभाविक है, कुदेक
 राष्ट्रों को छोड़कर अधिकांश सामान्य और तद्भव राष्ट्र हिन्दी में
 के ही प्रयुक्त होते हैं, त्रिगुण प्रयोग अथवा प्राकृत भाषाओं का
 रहा है । सांस्कृतिक परम्परा और प्रकृता को इगो कारण हि
 मकने अधिक अक्षुण्ण रहा है, और इगमें स-देश नहीं कि नि
 धर्मों और साम्प्रदायों के बीच हमारी सांस्कृतिक का आधार हिन्दी
 ही स्थायी देव्य स्थापित कर गइली है ।

प्रश्न भाषा-विज्ञान का है—यह बात-दार करा और निर-
 का चुका है कि राष्ट्र-भाषा का प्रश्न मुख्यतः भाषा-विज्ञान से सम्-
 रचना है, न कि राजनीति से । राजनीतिक उद्देश्य भाषा-विज्ञान
 का तो विजयकुण्ड नहीं अथवा कम-से-कम अतिव नगण्य-ता है ।

आपको जानना चाहिए कि हिंदी को हमारे राष्ट्र का बहुत बड़ा अनमोल सांस्कृतिक तथा साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकार कर चुका है, उस पर अब केवल राजकीय मोहर लगानी है। स्वयं ही कि राष्ट्र का निर्माण लोकमत के रस आधार के बिना हो नहीं सकता।

सोव-भाषा के रूप में हिन्दुस्तानी को हमारे सामने घात्र दृष्टपूर्वक रखा जा रहा है। यह नाम हमारे लिए कुछ बड़ा नहीं है। कतिपय कुरीतिका धर्मोपेक्षकों ने बहुत पहले हिन्दुस्तानी के नाम से उर्दू को बताने का विफल प्रयत्न किया था। हिन्दुस्तानी के इस दावे को कि यह सोव-भाषा है या बन सकती है, भाषा-शास्त्र के एक भी पंडित ने कभी स्वीकार नहीं किया। हिन्दुस्तानी की न तो कोई स्थिर व्याख्या है, न उसका कोई साहित्य है। उपादा-से-उपादा जिस प्रकार उर्दू को हम हिन्दी की ही एक विशिष्ट शैली मानते हैं, उसी प्रकार हिन्दुस्तानी को भी हिन्दी की एक सरल शैली मान सकते हैं। पर शैली कभी भाषा के सम्पूर्ण रूप का स्थान नहीं ले सकती, अगर घात्र जिस रूप में हिन्दुस्तानी हमारे सामने घात्र है, उसे तो हम सरल शैली भी नहीं कह सकते। यह तो हिन्दी का, और उर्दू का भी, बड़ा भरा रूप है जिसमें धर्मोपेक्षकों के भी कुछ आवश्यक शब्द जहाँ-तहाँ रख दिये जाते हैं। धर्मोपेक्षकों और दुःख होता है, जब हमारे कुछ समझदार नेता और साहित्यकार भी बिना समझे-सूझे इस घटपटी और निपट बनावटी हिन्दुस्तानी का बार-बार समर्थन किये जा रहे हैं।

परन्तु साम्प्रदायिक नहीं—घासान जन-भाषा या घासकहम ज़बान की बार-बार गट लगाने जा रही है। हिन्दुस्तानी के ये हिमायती स्वतः निरुद्ध सर्वों की क्यों इस तरह उपेक्षा कर रहे हैं ? संसार में घासके किस भाषा का ऐसा उदाहरण मिलेगा, जिसमें जिसे प्रत्येक विषय को वहाँ का प्रत्येक जन समझ सके ? बाजार में सौदा-सुझक खेने-देने वालों की भाषा राजनीतिक विधानों अथवा विविध विज्ञानों की भाषा नहीं हुसा करती। सजाब अखबार में बोख-बाख की भाषा का

मही है ; प्रश्न तो उस साहित्यिक भाषा का है, जिसमें हम राष्ट्र को समस्त आशयकताओं और अभ्यासों को सफलतापूर्वक पूरा कर सकें। विविध तर्कों और सुष्पीकरण की सोसलजी मॉड पर खरी हिन्दुस्तानी के बूते का यह काम नहीं। आश्चर्य है कि सांप्रदायिकता का समूह भाग करने के लिए सांप्रदायिकता का ही बार-बार आशय दिया जाता है ! राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में सोचते समय हिन्दू या मुसलमान या ईसाई का चित्र हमारे सामने घाये ही क्यों ? भाषा तो, जैसे राष्ट्र, वैसे सभी की है।

संस्कृत-निष्ठता का कारण—अनेक प्रचारात्मक भाषों के मसाले हैं 'धामफहम', 'सरल भाषा', 'जन-भाषा' आदि भी हवा में गुँजेने वाले निरे नारे ही हैं। घात्र यह भी कहने का एक पैमान-मा चक्र पड़ा है कि हिन्दी दिन-प्रति-दिन संस्कृत-निष्ठ और निष्ठ-से-रिक्त-रहित होती जा रही है, और दूसरे प्रान्तों के लोग उसे सरलता से नहीं समझ पाते। खेदित ऐसी शिकायत तो दूसरे प्रांत वालों के मुँह से अब तक 'हरिजन-सेवक' और 'नया हिन्दू' की बनावटी हिन्दुस्तानी के बारे में ही सुनी गई है। विविध विषयों की व्यापकता के कारण हिन्दी यदि दिन-प्रति-दिन विद्यमित होती जा रही है, तो उसकी समृद्धि पर संस्कृत-निष्ठता और दुर्बलता का नाम लेकर, मसाले में नहीं चला, क्यों धारणा उठाई जानी है ?

दो-दो तीन-तीन जिनियाँ बनाये रखने की दृष्टिज तो और भी खतर है। भाषायिक दागता को हम हम प्रकाश ज्ञानी से खिपटाये रहेंगे तो संसार हम पर हँसेगा। विविध जिनियों के हम जड़-मोड़ से हम राष्ट्र को ऐश्व की घोर नहीं, उल्लटे अनेक्य की घोर से जारंगे और उगके और भी दृष्ट-दृष्ट कर देंगे। भाष ही अपनी वैज्ञानिक इति भी तो बँटेंगे। मसाले में नहीं चला कि जो प्रश्न राष्ट्र राष्ट्रिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक है उन पर बुद्धि-मंगल विचार करने समय हम क्यों संकोच और अज्ञान का अनुभव करने हैं ?

जब्रा और दुःख की बात तो असल में हमारे लिए यह है कि अपनी राष्ट्र-भाषा का प्रश्न आज हम विधान-सभा में ले जा रहे हैं। कदाचित् सभा के कुछ सदस्य हिन्दी के विपक्ष में भी हाथ उठाएँ और शायद कुछ उद्वेग भी रहें। अनेक के हृदय में अंगरेजी के प्रति भी पहले की जैसी ही अद्भुत-भक्ति बनी हुई है। ऐसा न होता तो आज हमारा मूल विधान क्यों एक विदेशी भाषा में तैयार किया जाता, और उसके दो-दो तीन-तीन अनुवाद विधान-सभा में रखकर क्यों हम जज्बा के पात्र बनते। अंग्रेज़ तो गये, पर उनकी मोहिनी माया को छोड़ने की भी नहीं कर रहा, यह कितने दुःख की बात है।

“बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय”

अहिन्दी-भाषी प्रांतों में एक यह भी भ्रम फैलाया गया है कि हिन्दी वहाँ की स्थानीय भाषा को दबा देगी, उन्हें पनपने तक न देगी। इसके पीछे कितना बड़ा दुष्ट हेतु है। आश्चर्य है कि इस विचित्र दलील का प्रयोग कांग्रेसों की आक्रमण-नीति पर कभी नहीं किया गया, जिसने सचमुच स्थानीय भाषाओं के बंदने में बड़ी-बड़ी बाधाएँ डालीं और लोक-मानस को बुरी तरह विह्वल कर दिया। फिर भी अंगरेज़ी के प्रति इतना अधिक अन्धमोह और अपने ही देश के बहुसंख्यकों की भला की ओर से इतना सन्देह और भय ! स्थानीय भाषाओं का स्थान तो सबसे पहला है। उनके स्वाभाविक पद को कौन खीन सकता है ? राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता तो केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार और ऐक्य-साधन के लिए है। प्रायःक दृष्टि से यह स्थान हिन्दी को ही मिल सकता है और वह उसको मिल भी चुका है। ‘बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय’—हिन्दी की यह प्रतिज्ञा है।



नहीं है। वस्तु तो वही सांख्यिक भाषा का है, जिसमें हम शाब्द की
 सामान्य व्याख्याकर्तृताओं की व्याख्याओं को व्यवस्थापूर्वक रूप का सर्वोच्च
 विचार नहीं की। नृत्तकाल का गोलकी गोल वर नहीं दिग्गुणों
 के कृते का यह काम नहीं। शाब्दिक है कि सांख्यिकता का सर्वोच्च
 भाषा करने के लिए सांख्यिकता का ही शाब्दिक व्याख्या किया गया
 है। शाब्द-भाषा के सम्बन्ध में शाब्दिक भाषा दिग्गुणों का सुन्दरान का
 ईशान का विचार हमारे सामने था ही क्यों ? भाषा तो, जैसे शाब्दिक
 जैसे भाषा ही है।

जो वे चाहते थे । जहाँ-तहाँ कुछ शब्दों की जगह 'हिन्दी' शब्द लिख दिये गए और वह पुस्तक देवनागरी अक्षरों में भी छप गई ।

एक और उदाहरण—दक्षिण-भारत हिन्दी-व्याकरण सभा ने 'हिन्दुस्तानी' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की है, उसमें मौलाना अबुल-कलाम आजाद का उद्देश्य में लिखा हुआ एक 'दीवाचा' है, जो देवनागरी अक्षरों में भी ज्यों-का-त्यों 'दीवाचा' ही है ? 'दीवाचा' शब्द फारसी का है; उसे फारसी में जगह है और हिन्दुस्तानी की उद्देश्य में भी; लेकिन हिन्दुस्तानी ही जिनकी जन्म-भूमि है ऐसे वे दो शब्द—'प्रस्तावना' और 'भूमिका'—आप कृपया कहें कि अब कहाँ शरण ढूँढ़ें ? हिन्दुस्तानी में तो अब उनको शरण मिलेगी नहीं, क्योंकि वे 'हिन्दुस्तानी' नहीं हैं !

और क्या यह 'न संस्कृत, न अरबी-फारसी' भाषा लिखने का प्रयत्न सफल होता है ? यदि आपको सारे साहित्य में "मैं जाता हूँ, मैं आता हूँ" जैसे दो-दो शब्दों के वाक्यों से ही काम लेना ही तो बात दूसरी है, अन्यथा आप जरा भी गहराई में उतरें तो आपको अपनी 'न संस्कृत, न अरबी-फारसी' वाली बात गुरन्त धोव देनी होगी । मैं इस 'हिन्दुस्तानी' किताब से ही, जो एकदम बच्चों के लिए लिखी गई है, दो उदाहरण देता हूँ । एक जगह फुटनोट है—“मुजम्मा मुघल्लत की वजह से इफ्तयाह में जो कब्र पैदा होता है, उस्ताद उसे समझाए और मरक कराए ।” हिन्दुस्तानी आदर्शवादियों ने उसे देवनागरी अक्षरों में कैसे लिखा है—‘पुर्विल्लह और स्त्रीलिंग की वजह से क्रियाओं में जो कब्र पैदा होता है, उस्ताद उसे समझाए और मरक कराए ।’ दोनों लिपियों में लिखी जाने योग्य भाषा बनाने के पैर में देवनागरी में भी कारण न लिखकर वजह लिखा गया है; अर्थात् न लिखकर उस्ताद लिखा गया है, अर्थात् न लिखकर मरक लिखा गया है; मान लें शब्द पहले सब शब्दों की अपेक्षा सरल हों; 'आमफहम' हों; लेकिन अब भी क्या दोनों लिपियों में भाषा लिखी जा सकती ? देवनागरी में

‘श्रियाधो’ है, ‘टट्ट’ में ‘इच्छाब्द’ है (केन्द्र का बहु वचन केन्द्रों हो जाता लेकिन अब तो यह हिन्दी-व्याकरण के अनुसार होता), देवनागरी में पुच्छिग है तो ‘टट्ट’ में सुवच्छर है। देवनागरी में स्त्रीलिङ्ग है तो ‘टट्ट’ में सुवच्छर है।

दूसरा उदाहरण लें—श्लोक १४ पर—“सुवच्छरम-दात्रि-गण-हाब-भो की मरफ केन्द्र-दात्र के सुवच्छर सुवच्छर की मूरतों में क्या हो जाय।” दोनों लिपियों में एक ही भाषा जिसने के इच्छुओं को देवनागरी में इसे यों लिखना पड़ता —“इच्छर और मय्यम पुच्छर की मरफ वर्तमान काब के पुच्छिग और स्त्रीलिङ्ग के रूपों में क्या हो जाय।” दोनों वाक्यों में एक ‘मरफ’ शब्द को दोहरा कराना विशेष शब्द समान है? यदि हम ‘अम्पाम’ को जगह हम ‘मरफ’ शब्द को ही अपनी भाषा में जगह दें और हिन्दुस्तानी की मरफ “अम्पाम” को देना-निवाला भी दें, तब भी क्या हमसे वह हिन्दी “हिन्दुस्तानी” हो जाती है?

विद्युत् दिनों दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार-समाज के १२ वें-१३ वें पदवी-दान के अवसर पर उनका सैयद अफ़्जुल्ला खोखली माडब ने एक तस्वीर फरमाई थी। उसमें जायने दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार समाज को बड़े सज्जाह दी है कि वह अपना नाम ‘हिन्दी-प्रचार-समाज’ से अपने उसे ‘हिन्दुस्तानी-प्रचार-समाज’ में परिवर्तित कर दे। प्राप्त फरमाते हैं—“हिन्दी नाम से पैदा होने वाले समाज को हटाने के लिए मैं अपनी अपनी पर और दूंगा, साथ ही हमें हमें कि मुझे पूरा यकीन है कि हम तब-तब से सुमझमानों के मन पर बड़ा अपना काम होगा।” कुछ लोग बड़ा करते हैं कि नाम से क्या रखा है; लेकिन खोखली माडब नाम के तब-तब से ही सुमझमानों के मन पर बड़ा अपना काम देना करने की इच्छा करते हैं। जायने अपनी तस्वीर में फरमाते हैं कि कौनो समाज को हमके जो तीन नाम मिले हैं—हिन्दी-हिन्दुस्तानी—के तीनों सुमझमानों के दिने हुए हैं। यदि वह

बात ठीक है तो 'हिन्दुस्तानी' नाम में यह कौन-पो. खासियत है जिसकी वजह से मुसलमान भाई 'हिन्दी' और 'उर्दू' दोनों नामों पर उसे तरजीह देंगे ? आत्र आप मुसलमानों पर 'अच्छा असर पड़ेगा' की बात कहकर राष्ट्र-भाषा को 'हिन्दुस्तानी' ही कहने की सलाह दे रहे हैं, कल आप उसे 'उर्दू' ही कहने की सलाह भी दे सकते हैं । १९७२ में गाँधी जी ने जब "हिन्दुस्तानी सभा" की नींव डाली तब उसके ३६ बुनियादी मेम्बरों में कितने मुसलमान भाई मेम्बर बने थे ? स्वयं मोहम्मदी सादब तो और उसमें थे ही नहीं, कसम खाने के लिए तीन नाम दिखाई देते हैं, लेकिन ऐसे, जिनमें से कोई भी भाषा-सम्बन्धी शेषों के लिए प्रसिद्ध नहीं—न आजाद हैं, न जाकिरहुसैन हैं, न मौलाना अब्दुल हक हैं ।

चमा कीजिए यह 'हिन्दुस्तानी' आंदोलन हमारे मान्य राजनीतिक नेताओं की सूरु है और किसी राजनीतिक आवश्यकता का ही परिणाम भी । लेकिन शर्तों पर आश्रित एकता—बनावटी एकता—स्थायी नहीं होती ।

अंग्रेजी और उर्दू के बाद इधर दो-तीन वर्ष से एक नई विचार-धारा ने धपना सिर उठाया है । उसका नाम है हिन्दुस्तानी विचार-धारा । जिस प्रकार किसी शोच पर लगा हुआ लेखक बना रहे लेकिन उसके अन्दर की चीज बदल जाय वही हाल हिन्दुस्तानी लेखक का है । हम इस शब्द को हिन्दी के साथ-साथ काम में लाते रहे हैं—जैसे 'हिंदी-हिन्दुस्तानी' और यह हिन्दी का पर्यायवाची भी रहा है, जैसे हिंदी 'अथवा' हिन्दुस्तानी । लेकिन इधर इस 'अथवा' में प्रामुख परिवर्तन हो गया है । पहले इसका मतलब था कि चाहे हिन्दी कहो चाहे हिन्दुस्तानी कहो, बात एक ही है । लेकिन अब इस 'अथवा' का अर्थ किया जा रहा है कि हिंदी और हिन्दुस्तानी दोनों में से किसी एक का चुनाव करना होगा ! यदि हिंदी का, तो हिन्दुस्तानी का नहीं और हिन्दुस्तानी का, तो हिंदी का नहीं ।

हम हिंदी धाखे वर्षों से प्रचार करते आए हैं कि हिंदी राष्ट्र-भाषा है। इसलिये प्रत्येक हिंदी को, प्रत्येक भारतवासी को, इसे सीखना चाहिए। इस नई विचार-धारा ने, जिससे हमें सावधान रहना चाहिए कहना आरम्भ किया है कि हिंदी हिंदुओं की भाषा है और उर्दू मुसलमानों की। यह ठीक है कि हिंदी हिंदुओं की भी भाषा है किन्तु हिंदुओं की नहीं और इसी प्रकार उर्दू भी मुसलमानों की नहीं। सर तेज बहादुर सय्यद उर्दू के प्रसिद्ध समर्थक हैं। वे मुसलमान नहीं कारमीर के साक्ष्य हैं। और अबुलमन तरक़ी ए उर्दू की मुख्य परिवर्तन 'हमारी जवान' के सम्पादक भी श्री मनमोहन दत्तात्रेय हैं। उर्दू बिस्वी में आपका गोत्र ठीक-ठीक लिखा ही नहीं जा सकता। कोई भाषा किसी धर्म की बपीती नहीं। जो लोग हिन्दी को हिन्दुओं की भाषा कह-कह कर और उसी प्रकार उर्दू को मुसलमानों की भाषा कह-कहकर हिन्दु-स्तानी के द्वारा हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के सम्पादन की बात करते हैं— मुझे भय है कि इतिहास ऐसे लोगों को, साम्प्रदायिकता का असाधारण प्रचारक न सिद्ध करे।

हिंदी के राष्ट्र-भाषा होने पर एक और आपत्ति उठाई जा रही है जिसमें उसके गुण को उसका दोष कहा जा रहा है। कहा जाता है कि ऐसी भाषा ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है 'जिसमें न संस्कृत के शब्द हों, न अरबी-फारसी के'। यदि हमारा राष्ट्र-भाषा को सच काम करने है जो आज दिन अंग्रेजी के माध्यम से करते हैं, तो ऐसी भाषा जिसमें 'न संस्कृत के शब्द हों न अरबी-फारसी के' हमारे लिए, तीन बीसी की भाषा होगी। हमें यह निर्णय करना ही होगा कि विशेष शब्द आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य होने पर कहीं से लें ? स्थान में बैक को घना-गार कहते हैं और मोट को घन-पत्र। हम भारत में यदि इसी प्रकार चोलें और जिलें, तो उसमें किसी को क्यों आपत्ति हो सकती है ?

एक और मन्त्रे की आपत्ति यह है कि खोगों की मातृ-भाषा हिन्दी में और खोगों की राष्ट्र-भाषा हिन्दी में अन्तर होना चाहिए। अर्थात् जो

हिन्दी किसी की मातृ-भाषा है वह राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती। स्काटलैंड और ब्रिटेन के लोगों से अंग्रेजी का बड़ी सम्बन्ध कहा जा सकता है जो मराठी भाषा-भाषी अथवा गुजराती भाषा-भाषी लोगों का हिन्दी से। इंग्लिश इंग्लैण्ड के लोगों की मातृ-भाषा होने हुए भी सारे ब्रिटेन की राष्ट्र-भाषा है और सारे ब्रिटिश साम्राज्य की साम्राज्य-भाषा। तो क्या एक तरह की अंग्रेजी अंग्रेजों की मातृ-भाषा है और दूसरी तरह की अंग्रेजी ब्रिटेन की राष्ट्र-भाषा और तीसरी तरह की अंग्रेजी ब्रिटिश साम्राज्य की साम्राज्य-भाषा? अंग्रेजी अंग्रेजी है। आप उसे मातृ-भाषा मानकर सीखें, राष्ट्र-भाषा मानकर सीखें या साम्राज्य-भाषा मानकर सीखें। किन्तु सुझाया यह जाता है कि हिन्दी के दो रूप होने चाहियें—एक मातृ-भाषा वाला रूप, दूसरा राष्ट्र-भाषा वाला रूप। सच्ची बात यह है कि मातृ-भाषा के अर्थ में तो हिन्दी भारत के कुछ चार-पाँच जिलों की भाषा होगी; शेष समस्त भारत की तो हिन्दी राष्ट्र-भाषा ही है। और उसका स्वरूप निश्चित है। हमें आज उसका प्रचार करना है; उसमें नए आवश्यक ग्रन्थों का निर्माण करना है।



हिन्दी : राष्ट्र-भाषा

(डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा)

हमारी अत्यन्त प्राचीन भाषा का नया कजेवर—मेरा ताल
 सही बोली हिन्दी से है—तथा उसका साहित्य इस समय कुछ
 धारण परिस्थितियों में होकर गुजर रहा है। इन मचीन परिस्थिति
 परिणाम स्वरूप अनेक नई समस्याएँ, नई उलझनों, नये भ्रम ह
 भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में हिंदियों तथा अहिंदियों दोनों
 के बीच में फैल रहे हैं। अपनी भाषा और अपने साहित्य के मा
 हित की दृष्टि से इनमें से कुछ प्रधान समस्याओं की ओर मैं ध्यान
 ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। बात बरा बचकानी-सी मात्र होतो
 है, किन्तु मेरी समझ में हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में बहु-
 सी वर्तमान समस्याओं का प्रधान कारण हिन्दी की परिभाषा, नाम
 -- तथा स्थानके सम्बन्ध में भ्रम अथवा दृष्टिकोण का भेद है। अतः सबसे
 पहले इनके विषय में यदि हम और आप सुधरे ढंग से सोच सकें
 तो उत्तम होगा।

आप कहेंगे कि हिंदी की परिभाषा के सम्बन्ध में मतभेद ही क्या
 हो सकता है, किन्तु वास्तव में मतभेद नहीं तो समझ का देर कहीं पर
 अपरय है। हिन्दी-सैगियों का एक वर्ग हिन्दी भाषा शब्द का प्रयोग
 जिस अर्थ में करता है दूसरा वर्ग उसका प्रयोग करता है

करता है। देश में हिंदी भाषा के रूप के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न धारणाएँ फैली हुई हैं इस दृष्टिकोण से मैं हिन्दी भाषा की एक परिभाषा आपके सामने रख रहा हूँ। पाठकों से मेरा अनुरोध है कि इस परिभाषा के प्रत्येक अंश पर ध्यानपूर्वक विचार करें और यदि इसमें ठीक पावें तो अपनावें, यदि अपूर्ण अथवा किसी अंश में शुद्धिपूर्ण पावें तो विचार-विनिमय के उपरान्त उसे ठीक करें। हिन्दी के क्षेत्र में कार्य करने वालों के पथ-प्रदर्शन के लिए यह नितांत आवश्यक है कि हम और आप स्पष्ट रूप में समझे रहें कि आखिर किस हिन्दी के लिए हम और आप अपना तन-मन-धन लगा रहे हैं। हिन्दी भाषा की यह परिभाषा निम्नलिखित है—“व्यापक अर्थ में हिन्दी उस भाषा का नाम है जो अनेक बोलियों के रूप में आर्यावर्त के मध्यदेश अर्थात् वर्तमान हिन्दप्रान्त (संयुक्तप्रान्त), महाकौशल, राजस्थान, मध्यप्रान्त, बिहार, दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब प्रदेश की मूल जनता की मातृ-भाषा है इन प्रदेशों के प्रवासी भाई भारत के अन्य प्रान्तों तथा विदेशों में भी आपस में अपनी मातृ-भाषा का प्रयोग करते हैं। हिन्दी भाषा का आधुनिक प्रचलित साहित्यिक रूप सहीबोली हिन्दी है, जो मध्यदेश के परी-खिन्सी मूल जनता की शिवा, पन्न-न्यवहार तथा पठन-पठन अर्थात् की भाषा है और साधारणतया देवनागरी लिपि में लिखी तथा सा

कोठी रूप को साहित्यिक माध्यम के रूप में पुनः त्रिधा है। साहित्यिक श्रुतीशोभा तद्वी के द्वारा हमारे कवि, लेखक, व्याख्याता आदि धर्म-धर्मों के विचार प्रकट कर चुके हैं। कभी मुझे यह उदाहरण सुनने को मिलता है कि हिन्दी भाषा कितना अक्षय है कि हिन्दी भाषा कितने बड़ा जाय। यह समझ में आता है। मेरा उत्तर है कि यह एक भ्रम-मात्र है। साहित्यिक दृष्टि से यदि आप का जिनके हिन्दी के रूप को मनमत्ता आने है तो सामाजिक साहित्य कृति को उठा लें। व्यक्तिगत अभिरुचि तथा शैली के कारण शोभी-शोभी विशेषताओं का रहना तो स्वाभाविक है किन्तु यों आप इन सबमें समान रूप से एक वैसी विद्यमान, सुसंस्कृत तथा टकसाली भाषा पार्यन्त, कि त्रिपके व्याकरण, शब्द-समृद्ध, लिपि तथा साहित्यिक [आदर्श में आपकी कोई प्रधान भेद नहीं मिलेगा। यह साहित्यिक हिन्दी प्राचीन भारत की संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अर्ध-भ्रंश आदि भाषाओं की उत्तराधिकारिणी है और कम-से-कम अन्त-प्रथम रहे हुए है। साहित्य के लिए भाषा का माध्यम अनिवार्य है। अतः भाषा के रूप तथा आदर्शों के सम्बन्ध में भ्रम अथवा मतभेद अंत में साहित्य के विकास में बाधक हो सकता है। इसीलिए सबसे पहले इस संभव भ्रम की ओर मुझे आपका ध्यान आकषिप्त करना पड़ा। हिन्दी के सम्बन्ध में दूसरी गद्बदी उसके नाम के विषय में कुञ्चितों से फैल रही है। कुछ लोग यह कहते सुने जाते हैं कि आज़ि-आम में क्या रखा है। एक हद तक यह बात ठीक है, किन्तु आप अपने पुत्र का नाम रहीं नहीं रखें अथवा रामस्वरूप; इससे कुछ तो बर ही जाता है। व्यक्तियों का प्रायः एक निरिच्छत नाम होता रहीं नहीं उन्हें रामस्वरूप का अन्त आने कम देखा-सुना होगा। अनिच्छित नामकरण संस्कार के उपरांत

परिस्थिति के अनुसार स्कूल में नाम लिखाने के बाद से, वही नाम आजीवन व्यक्ति के साथ चलता रहता है। व्यक्ति के जीवन में कई बार नाम बदलना अववाद स्वरूप है। यह बात भाषाओं के नाम पर भी लागू होती है। अभी कुछ दिन पहले तक जब मध्यदेशीय साहित्य की भाषा प्रधानतया ब्रज तथा अवधी थी उस समय हिन्दी के लिए "भाषा" या "भाखा" शब्द का प्रयोग प्रायः किया जाता था। इसके साथ प्रदेश का नाम जोड़कर अक्सर ब्रज भाषा, अवधी भाषा आदि रूपों का व्यवहार हमें मिलता है। गत सौ, सया सौ वर्ष से जब से हिन्दी के खड़ी बोली रूप की हम मध्यदेशवासियों ने अपने साहित्य के लिए अपनाया तब से हमने अपनी भाषा के इस आधुनिक साहित्यिक रूप का नाम हिन्दी ही रखा। तब से अब तक इस नाम के साथ कितना इतिहास, कितना मोह, कितना आकर्षण बढ़ता गया इसे बतलाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। भला हो या बुरा हो, अपना हो या ग्युपत्ति की दृष्टि से पराया हो, हमारी भाषा का यह नाम चल गया और चल रहा है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का दिया आर्यभाषा नाम निःसन्देह अधिक वैज्ञानिक था तथा मध्यदेशीय संस्कृति के अधिक निकट था किन्तु वह नहीं चल सका और वह बात वहाँ ही समाप्त हो गई। किन्तु इधर हमारी भाषा के नाम के सम्बन्ध में अनेक दिशाओं से प्रयास होते दिखलाई पड़ रहे हैं। मेरा संकेत यहाँ तीन नये नामों की ओर है—अर्थात् हिन्दी-हिंदुस्तानी, हिंदु-स्तानी तथा राष्ट्र-भाषा। यदि ये नाम इस श्रेणी के होते, जैसे हम अपने पुत्र रामप्रसाद को प्रेमवश मुनुषा, पुतुषा और बेटा नामों से भी पुकार लेते हैं तब तो मुझे कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु मुनुषा, पुतुषा तथा बेटा रामप्रसाद के स्थान पर चलवाना मेरी समझ में अनुचित है। यह भी स्मरण रखने की बात है कि नाम-परिवर्तन सम्बन्धी यह उद्योग हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रेम के कारण नहीं है। इनमें से कोई भी नाम किसी प्रसिद्ध हिन्दी साहित्य-सेवी की

आया है। इस विचार से सूत्रधार प्रायः देश के राज-
 अनहित की चिन्ता रखने वाले महापुरुष हैं। हमारी
 के साथ यह खिन्नवाद करना अब उचित नहीं प्रतीत
 है। राजनीतिज्ञ परिचित यदि वे सोचते हों कि हिंदी का
 वे उसे किसी दूसरे वर्ग के गले उतर सकेंगे तो वह
 मात्र है। प्रत्येक हिंदी का विद्यार्थी यह जानता है कि
 प्रारम्भ में शही बोली उर्दू भाषा के लिए प्रयुक्त होगा
 अपनी भाषा के लिए जब यह नाम अपनाया, तो दूसरे
 होकर हिंदुस्तानी अथवा उर्दू नाम रख दिया। यदि
 जाने लगे तो दूसरा वर्ग हटकर कहीं और जा पहुँचेगा।
 जैसे डेढ भारतीय नाम को तो दूसरे वर्ग से स्वीकृत
 है। समस्या वास्तव में नाम की नहीं है, भाषा-शैली
 और शही बोली उर्दू शैली को तथा वास्तविकी
 आधार को स्वीकृत करने की उद्यत हों तो मैं विराम
 दूसरे वर्ग को हिंदी नाम भी फिर से स्वीकृत करने में
 लगे। हिन्दु क्या हमसे अपनी भाषा-शैली तथा साहित्य-
 दुर्गम जा सकती है ? इसका उत्तर स्पष्ट है। संभव है
 सोच दें, कि तु भारत जब तक भारत है तब तक देश
 राजनीतिक मुद्दों के कारण हमारी भाषा से सहानु-
 के राजनीतिज्ञों से मेरा सादर अनुरोध है कि वे हमारी
 में यह एक नई गड़बड़ी उपस्थित न करें। यदि हममें
 तब तो इस पर विचार भी किया जा सकता था कि
 को हिंदी-हिंदुस्तानी, हिंदुस्तानी अथवा राष्ट्र-भाषा
 में हिंदी-उर्दू की समस्या दूर नहीं होगी। हम
 जाने का एक ही उपाय था—या तो स्वर्गीय प्रसाद
 भाषा में साहित्य-रचना करवाना अथवा
 से स्वर्गीय प्रसाद की भाषा में रचना करवाना।

यदि इसे चाप असंभव समझते हों तो हिंदी और उर्दू के बीच में एक नये नाम के गढ़ने से कोई फल नहीं । हिंदुस्तानी अथवा राष्ट्र-भाषा नाम के कारण हिन्दी की साहित्यिक शैली के सम्बन्ध में कुछ लेखकों के हृदय में अस फैलने लगा है इसी कारण मुझे अपनी साहित्यिक भाषा के नाम के सम्बन्ध में आपका इतना समय नष्ट करने का साहस हुआ ।

तीसरी समस्या, जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है, हिन्दी भाषा और साहित्य के स्थान की समस्या है । जिस तरह प्रत्येक भाषा का एक घर होता है—बंगाली का घर बंगाल है, गुजराती का गुजरात, फारसी का ईरान, फ्रांसीसी का फ्रांस उसी प्रकार हिन्दी भाषा और साहित्य का भी कोई घर है या होना चाहिये, यह बात प्रायः भुला दी जाती है । इधर कुछ दिनों से हिन्दी के राष्ट्र-भाषा अर्थात् अखिल भारतवर्षीय अंतर्राष्ट्रीय भाषा होने के पहलू पर इतना अधिक जोर दिया गया है कि उसके घर की तरफ हमारा ध्यान ही नहीं जाता । वास्तव में हिन्दी भाषा और साहित्य के दो पहलू हैं—एक प्रादेशिक तथा दूसरा अंतर्राष्ट्रीय । हिन्दी भाषा का असली घर तो आर्यावर्त के मध्यदेश में गंगा की घाटी में है जो आज विचित्र रूप से अनेक प्रान्तों तथा देशी राज्यों में विभक्त है । हमारी भाषा और साहित्य की रचना के प्रधान केन्द्र संयुक्तप्रान्त, मद्रासीसख, मध्यभारत, राजस्थान, बिहार, दिल्ली तथा पंजाब में हैं । यहाँ की पढ़ी-लिखी जनता को यह साहित्यिक भाषा है—राज-भाषा तो अभी नहीं कह सकते । इन प्रदेशों के बाहर शेष भारत की जनता की साहित्यिक भाषाएँ भिन्न हैं, जैसे बंगाल में बंगाली, गुजरात में गुजराती, मद्रास में मराठी आदि । इन अन्य प्रदेशों की जनता तो हिन्दी को प्रधानतया अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विनिमय के साधन-स्वरूप ही देखती है । प्रदेश की अपनी-अपनी साहित्यिक भाषा है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए, कुछ लोगों के धारने उन्हें हिन्दी की भी आपसपकठा जान पकती है ।

हम हिन्दीयों की साहित्यिक भाषा भी हिन्दी है, अपनी भाषा भी हिन्दी ही है। हिन्दी के बनने-बिगड़ने से गुजराती या मराठी की भाषा या साहित्य पर कोई विशेष पड़ता इसलिए हिन्दी के संबंध में विचार करते समय उसके व्यक्ति के समान दृष्टिकोण होना स्वाभाविक है। किन्तु हिन्दी साहित्य के बनने-बिगड़ने पर हम हिन्दीयों की भविष्य की बनना-बिगड़ना निर्भर है। उदाहरणार्थ अन्तर्राष्ट्रीय काव्य भारतीय, ईरानी, जापानी लोग सभी काम खजाद खंभे जो हैं और योग्यतानुसार सही शक्त प्रयोग करते रहते हैं किन्तु अपनी भाषा के हित-घनहित के संबंध में विशेष चिन्तन स्वाभाविक है। इस संबंध में एक आदरणीय विद्वान् ने एक निम्न में अपने विचार बहुत जोरदार शब्दों में प्रकट किये हैं। उनके स्मरण रखने योग्य वचन पठनीय हैं :—“मैं कहता हूँ क्यों की हिन्दी नहीं कहा जाता, क्यों मारु-भाषा नहीं कहा जाता, क्यों वात की स्वीकार करने में दिखकने हैं कि उनके द्वारा लोगों का दुःख अभिभ्यक्त होता है; राष्ट्र-भाषा अर्थात् विज्ञान की भाषा, राजनीति की भाषा, कामखजाद भाषा नहीं अर्थात् प्रधान हो गई और मारु-भाषा साहित्य-भाषा, हमारे रुदन-हास्य की भाषा गीत। हमारे साहित्यिक दार्ष्टिक्य का इससे बढ़कर अन्य प्रदर्शन क्या होगा।”

वास्तव में हिन्दी भाषा और साहित्य का उत्पादन-पनन प्रभावतया हिन्दी-भाषियों पर निर्भर है। हिन्दी भाषा को जैसा रूप वे देंगे तथा उसके साहित्य को कितना ऊपर वे उठा सकेंगे उसके आधार पर ही अन्य प्रान्तवासी राष्ट्र-भाषा हिन्दी को सीख सकेंगे व उसके संबंध में अपनी धारा बना सकेंगे। इस समय अथवा एक निम्न परिस्थिति होने जा रही है। हिन्दी-भाषियों की अपनी भाषा धारि का रूप तिरा करके राष्ट्र-भाषा के दिमागियों के सामने रखना चाहिए या। इस समय राष्ट्र-भाषा अर्थात् हिन्दी का रूप तिरा करके हम हिन्दीयों को

हते हैं। इनका प्रधान कार्य हमारा अपनी भाषा की ठीक सीमाओं
 न समझना है। हिंदी भाषा और साहित्य अक्षयवट के समान है।
 इसे अक्षयवट इसलिए कहता हूँ कि वास्तव में संस्कृत, पाली,
 पृथ्वी, अपभ्रंश आदि पूर्वकालीन भाषाएँ तथा साहित्य हिंदी भाषा के
 पूर्व रूप हैं। हिंदी इनकी ही आधुनिक प्रतिनिधि तथा उत्तराधि-
 रिणी है। इस अक्षयवट की जड़ें, तना तथा प्रधान शाखाएँ आर्यावर्त
 मध्यदेश अथवा हिंदी-प्रदेश में स्थित हैं, किन्तु इस विशाल वट वृक्ष
 सिन्धु हरित पत्रों की छाया समस्त भारत को शीतलता प्रदान करती
 है। भारत के उपवन में इस अक्षयवट के चारों ओर बंगला, आसामी,
 देया, तेलगू, तामिल आदि के रूप में अनेक छोटे-बड़े नये-पुराने वृक्ष
 हैं। हम सबके ही हितैषी हैं। किन्तु भारतीय संस्कृति का मूल
 वेनिधि तो यह वट वृक्ष ही है। इसके सोंचने के लिए और सुदृढ़
 करने के लिए वास्तव में इसकी जड़ों में पानी देने तथा इसके तने की
 रक्षा करने की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में, घर के मुसिया की
 रक्षा, इस सुदृढ़ वृक्ष की हरी-हरी पत्तियाँ उपवन के शेष वृक्षों की रक्षा,
 धूल के आवरण तथा प्रचंड वायु के कोप से आप हो करती रहेंगी। आज
 न मूल और शाखा में भेद नहीं कर पा रहे हैं। भारत के भिन्न-भिन्न
 भागों में पाया जाने वाला हिंदी का राष्ट्र-भाषा का स्वरूप तो अक्षयवट
 की शाखाओं और पत्तियों के समान है। यह शाखा-पत्र समूह कपड़े
 फटेने या पानी डालने से पुष्ट तथा हरा नहीं होगा, उसको पुष्ट करने
 के लिए एक ही उपाय है जड़ को सोंचना और तने की रक्षा करना। मेरी
 मकदम में हिंदी भाषा और साहित्य के इन दो भिन्न क्षेत्रों को स्पष्ट
 रूप में समझ लेना आवश्यक है। हिंदी के घर में हिंदी को
 पुष्ट करना मुख्य कार्य है और हिंदी-हिंदैषियों की शक्ति का प्रधान
 साधन इसमें व्यय होना चाहिए 'द्विन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्'।
 अर्थात्-भाषा के रूप में हिंदी का अन्य भागों में प्रचार भावी-
 तल की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण समस्या है। यह क्षेत्र प्रधानतया

समीक्षकों का है और हमका संबंध अन्य भाषाओं के दिन-प्रतिदिन
 है। अतः हम क्षेत्र से हम वर्ग के लोगों को कार्य करने देना चाहिए
 हिन्दी-भाषियों को तथा साहित्यिकों को हम क्षेत्र में काम करने का
 सहायता करने के लिए मदद सहर्ष उद्यत रहना चाहिए; किन्तु
 संबंध में हिन्दी-भाषियों तथा साहित्यिकों को अपनी शक्ति का प्रयोग
 ही करना चाहिए।

हिन्दी भाषा और साहित्य के संबंध में विद्वान संबंधी कुछ न
 समस्याओं की ओर मैंने आपका ध्यान आकर्षित किया है। यदि
 इन समस्याओं का निवारण हो जाय तो हमारी अनेक कठिनाइयों में
 सुधार लाना संभव हो जायगी। समयमात्र के कारण मैं विषय का विवेक
 प्रस्तार के साथ तो नहीं कर सका किन्तु मैंने अपने दृष्टिकोण को आप
 के शब्दों में रखने का उद्योग किया है। हमारी भाषा के उत्तम
 विकास तथा नव साहित्य-निर्माण में और भी अनेक झोटी-झोटी
 समस्याएं उपस्थित हैं। इनका संबंध प्रधानतया हिन्दी-भाषियों से है
 जिनमें से भी कुछ के संबंध में मैं अपने विचार संक्षेप में आपके सामने
 प्रचार्य रखना चाहूंगा।

हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में बाधक एक प्रधान समस्या
 हिन्दी-भाषी प्रदेश की द्विभाषा समस्या है। इस संबंध में मैंने
 लिखनी चाहिए कि साहित्य तथा संस्कृति की दृष्टि से हिन्दी-प्रदेश
 दो उद्गम के रूप में दो भाषाओं और साहित्यों की पृथक् धाराएं का
 है। पश्चिमी मध्यदेश अर्थात् पंजाब, दिल्ली, पश्चिमी संयुक्त
 राजस्थान के जयपुर आदि के राज्यों में तो उद्गम धारा का
 स्वरूप से बहती है, किन्तु रोप मध्यदेश में अर्थात् पूर्वी संयुक्त
 प्रदेश, बिहार, मध्यभारत तथा महाकोसल में हिन्दी का आधिपत्य अत्यंत
 काफ़ी है। हिन्दी प्रदेश की यह द्विभाषा समस्या एक असाधारण
 समस्या है क्योंकि बंगाल, गुजरात, तमिल, कर्नाटक आदि भारत
 के किसी भी अन्य भाषा-प्रदेश के सामने यह संकट कम-से-कम नहीं

तो वर्तमान नहीं है। उदाहरण के लिए बंगाली भाषा प्रत्येक बंगाली की अपनी प्रादेशिक भाषा है; चाहे वह हिंदू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध; जैन कुल भी हो। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में मैं हिंदी-उर्दू-मिलन को असंभव समझता हूँ—वास्तव में दोनों में ज़मीन-घासमान का अंतर है। हिंदी लिपि, शब्द-समूह, तथा साहित्यिक आदर्श वैदिक काल से लेकर अषोढा काल तक की भारतीय संस्कृति से अंत-प्रोत हैं। उर्दू लिपि, शब्द-समूह तथा साहित्यिक आदर्श हिंदी-प्रदेश में कल आए हैं और अन्तर्देशीय दृष्टिकोण से खराब है। हिंदियों की साहित्यिक सांस्कृतिक भाषा केवल हिन्दी है और हो सकती है। किंतु हिंदी के सम्बन्ध में एक भ्रम के निवारण की नितांत आवश्यकता है। वह यह कि हिंदी हिंदुओं की भाषा न होकर हिंदियों की भाषा है। अल्पदेश अथवा हिंदी प्रदेश में रहने वाले प्रत्येक हिन्दी को—चाहे वह वैष्णव हो या शैव, मुसलमान हो या ईसाई, पारसी हो या बंगाली—हिंदी भाषा, साहित्य और लिपि को अपनी वर्गीय चीज़ समझकर सबसे पहले और प्रधान रूप में सीखना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वर्गीय, प्रादेशिक या साम्प्रदायिक लिपि तथा भाषा को भी सीखे इसमें मुझे आपत्ति नहीं, किन्तु उसका स्थान हिन्दी प्रदेश में द्वितीय रह सकेगा, प्रथम नहीं। मेरी समझ में मुजिबकी मान्यता हिंदी है और जो यह समझते हैं कि वास्तव में हिंदी ही हिंदी प्रदेश की सच्ची साहित्यिक भाषा उन्हें दूसरे पक्ष के सामने विनय के साथ, किंतु साथ ही दृढ़ता के साथ, अपने इस दृष्टिकोण को रचना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि विशेषतया परिचामी हिन्दी प्रदेश में हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि प्रत्येक धर्म व जाति के लोगों में इस भावना का प्रचार करने का निरंतर उद्योग हो। मैं उर्दू के विरुद्ध नहीं हूँ किंतु मैं उर्दू को हिंदी-प्रदेश में हिंदी के बराबर नहीं रख पाता हूँ। मैं उसे एक द्वितीय भाषा के रूप में ही सोच पाता हूँ। हिंदी-उर्दू की समस्या को हल करने का यही एक उपाय है। दूसरा

सदा होता सीखा है। समाधारण विरोधी परिस्थितियों तक में हम अपनी पताका फहराते रहे हैं। शोषकवर्ग की सहायता तो हमें कभी मिली ही नहीं। हमारे हिन्दी प्रदेश के दरबारों में जब फारसी राज-भाषा थी उस समय हमने सूर, कबीर, और तुलसी वैदा किये थे। फारसी आई और चली गई किन्तु सूर-तुलसी-कबीर तो बस रहे। हमारे प्रदेशमें जब अंग्रेजी राज-भाषा हुई तब हमने अपनी तपस्या में रत्नाकर, प्रसाद और प्रेमचन्द-जैसे रत्न उत्पन्न किये। अंग्रेजी जा रही है किन्तु यह निश्चय है कि हमारे इन रत्नों की समस्त दिन-दिन बढ़ती जायगी। आज भी राजनीतिक परिस्थिति हमारी भाषा और साहित्य के लिए पूर्णतया अनुकूल नहीं है, किन्तु हमें इसकी चिन्ता भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यदि हमारा आत्म-विरपाम कायम रहा यदि हमारे द्वारों में भारतीय संस्कृति का चिरागा जलता रहा तो मध्यप्रदेश के इस बलवान् सोन के निम्न प्रवाह को संसार की बाँधों भी शक्ति नहीं रोक सकती।



हिन्दी का स्वरूप

(श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन')

बड़े खेद का विषय है कि हमारे देश के मुसलमान भाई न जाने क्या-क्या समझ बैठे हैं कि भारतवर्ष से बाहर की भाषाएँ, भारतीय भाषाओं की अपेक्षा, उनके अधिक निकट हैं। बात जैसी है, उसे वैसे ही समझ लेना चाहिए। आज का भारतीय मुसलमान, यानी पदा-द्विषा, नेता-रुपे का, मुसलमान अभारतीय, किंवा भारतीय संस्कृति-विरोधी, है। और, आज के भारतीय मुसलमान में जो यह भारतीयता-विरोधी मानस-प्रतिथि दिसलाई दे रही है वह कुछ नई नहीं है। उर्दू भाषा के विकास के इतिहास पर यदि हम विचार करें तो हमें पता चलेगा कि उसका यह वर्तमान स्वरूप भारतीयता-विरोधी मुस्लिम भावना का ही प्रतिफल है। इस समय में इस प्रश्न की ऊहापोह में न पहुँगा कि भारतीय मुसलमान समाज की भारतीयता-विरोधिनी मनो-वृत्ति के ऐतिहासिक कारण क्या हैं ? बिना किसी ऐतिहासिक विवेचन के यदि मैं सन् १९४९ में दिल्ली में व्यक्त किये गए विचारों को ही दोहरा दूँ तो आपको मेरा मन्तव्य स्पष्ट रूप से अवगत हो जायगा। इस देश इस्लाम ने अभारतीय स्वरूप धारण किया है, और दिन-प्रति-दिन के भारतीयता विरोध का यह रंग और गहरा होता जा रहा है।

गतवर्ष कहा था कि "भारतीय मुसलमान, भारतीय संस्कृति

भारतीय इतिहास, भारतीय वीर गुणों और भारतीय परम्परा विज्ञानीय समझना ही करने इस्लाम के प्रति मन्दिस्वनिर्वाह का आवश्यक तत्व मानना है। अतः यह भारतीय भाषा को भाषा नहीं मानता। यह दुर्भाग्य का विषय है। पर है यह यथार्थ बात। अतः मुर्खों का सुसज्जमान अपनी मुर्खी भाषा से शब्द चीन-चीन कर निकाल रहा है। अतः ईरान का सुसज्जमान आरामी भाषा में अरबी के शब्द निकाल कर अपनी भाषा को एवं सुसंस्कृत कर रहा है। पर अतः का भारतीय सुसज्जमान प्रसाद के वश होकर कि अमरतीयता इस्लाम-मन्दि की दो अपनी उर्दू भाषा में अरबी शब्दों को घुसेड़ रहा है। यह बिड़बना है। भारतीय सुसज्जमानों की इस मनोवृत्ति का कारण हम उत्पत्तियों के हिन्दू, जिन्होंने अपने धार्मिक संघोष के कारण अपनी सही-गली परिपाटी पूजा के कारण, अपनी संस्कृति को मनुभावों को विकृत कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि धर्मासलंकी जन हमारे शुद्ध स्वरूप को देख ही न पाये। कारण ही हो, भारतीय सुसज्जमान की इस अराष्ट्रीय, अपनी धर्म किंवा भारतीयता-विरोधी रुझान के अस्तित्व को स्वीकृत करके अतः को भाषा मन्वन्धी नीति का निर्णय करना है। मेरा अविरोध है कि यदि भारतीय सुसज्जमान को इस्लाम के मन्दि का दर्शन करना अस्वीकार है तो उसे अपने मन और प्राणों को भाषा के सांस्कृतिक रंग में रँगना पड़ेगा। जो मेरे सुसज्जमान मित्र अतः हैं और जिन्होंने वहाँ के सुसज्जमानों के मनुभावों को समझ प्रयास किया है, उनका कहना है कि अतः का मिथी सुसज्जमान पूर्वज परउन सम्राटों के प्रति अर्द्ध-मन्दि का, एवं उनकी अराष्ट्रवादी महती सांस्कृतिक विराजताओं में गौरव का अनुभव

अच्छे, सच्चे मुसलमान बनने के लिए अच्छे-सच्चे भारतीय बनने की प्रेरणा प्राप्त करनी पड़ेगी।”

हमारे देशवासी भाइयों की—अर्थात् हमारे मुसलमान भाइयों की—भाषा सम्बन्धी नीति इस बात का एक और प्रमाण है कि उनका मनो-भाव अभातीय है। उर्दू भाषा के विकास और उसके आरम्भ का क्रमागत इतिहास इस बात का साक्षी है कि उर्दू के उन्नायकों ने एतत् देशीय शब्दों—संस्कृत किंवा प्राचीन भाषाओं में व्यवहृत होने वाले शब्दों—के बहिष्कार की भित्ति पर ही उर्दू-ए-मी-अवला का प्रसाद निर्मित करने की ठान ली थी। अदीब उरमुहक नवाब सैयद नसीर खाँ के 'मुगल और उर्दू' नामक ग्रन्थ का एक उद्धरण पं० चन्द्रबन्दी पांडेय ने अपनी 'उर्दू कब और कैसे बनी' नामक पुस्तिका में प्रकृत किया है। नवाब सैयद नसीरखाँ महाशय का कथन इस प्रकार है:—

“उमदगुल मुहक ने और उमरा के मराविरा से दिल्ली में एक 'उर्दू अंजुमन' कायम की। उसके जलसे होते, ज़बान के मसपले विकते, चीज़ों के उर्दू नाम रखे जाते, लफ्ज़ों और मुहाविरों पर चहसे होठों, और बड़े रगड़ों-मगड़ों और छान-बोन के बाद 'अंजुमन' के दफ्तर में यह गइज़ीज़-शुदा अरफ़ाज़ व मुहाविरात कलमबन्द, होकर महफूज़ किये जाते। और बज़ौल नियरुलमुता खरीन, इनकी नकलें हिन्द के उमराव रुसा के पास भेज दी जातीं और वे उनकी तज़वीद को फज़ू जानते और अपनी-अपनी जगह उन लफ्ज़ों और मुहाविरों को फैलाते।”

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि उर्दू भाषा को विकसित करते समय उसके निर्माताओं के मन में इस देश के शब्दों को बहिष्कृत करने की भावना थी। यदि हम सरूर के उस शेर को याद करें जो उन्होंने नासिक के सम्बन्ध में कहा था तो हमारा यह सन्देह और भी एव हो जाता है। सरूर महाशय धीयुक्त नासिक की प्रशंसा में में करते हैं:—

पुलमुझे सीराज को दे रख नासिक का राष्ट्र ।
इसका उसने किया है कृपदाय लम्बनऊ ॥

हिंदिन् गोविन्दे तो कितना क्या अमरतीय क्या भारतीय-
विरोधी मनोभाव है । नासिक की प्रशंसा इंग्लिष् की गई कि उन्होंने
खलमऊ की गलियों को इस्कदान बना दिया । अर्थात् अपनी रचनाओं
में उन्होंने इतना अधिक एतन्-देशीय शब्द बहिष्कार किया और
फारसी शब्दों की इतनी हूँत-हूँत की कि खलमऊ की गलियाँ इस्क-
दान बन गईं । मेरा तात्पर्य यह है कि उन्हें के विकास की यह गति
यों ही चलती रही । स्वयं कवि गुरु भीष्मक मिर्जा नासिक में अपने
एक शेर में इसी भावना की पुष्टि बड़े गर्व के साथ की है । वे कहते हैं:—

जो ये कहे कि रेज्ता वयूँ कर हो रखे फारसी ?

गुनतये मालिष एक बार चढ़के घरो गुनाके यों ।

उन्हें को फारसी का ईर्ष्या-भाजन बनाना, अर्थात् देशी लम्बन,
मदय शब्दों से उसे विरहित करना, एक प्रकाश का मुख्य लक्ष्य जाना
है । अपने देश की राष्ट्रीय भाषा के प्रथम को सुलझाने समय हमें इस
पृष्ठ-भूमि—इस ऐतिहासिक भावना का—सदा स्थाय रहना होगा
राष्ट्रीय वृद्धता की उपानना में ही अपने को दिगी तो भी पीछे । अपने को
तेवार नहीं हैं । यह मेरा परम सीमाव्य है कि मुझे उग मुख्य पुरख का
चरणानुगामी, सदयोगी एवं सान्त्वन-भाजन होने का गौरव प्राप्त है,
जिसका नाम लखेसतंकर विद्यार्थी था और जिने हिन्दू-मुस्लिम देश
की उन्नयना के सम्प्रदान में अपने शायों का उदगर्ग कर दिया । लखेस-
तपुर की परिवारी जिसकी धारी हो, वह निर्द्वेष की भावना से ईति
करी हो सकता । मैं मुस्लिम संरक्षित, इसका और उद्ग का भक्त हूँ ।
मैं उद्ग का विकास नहीं चाहता । पर, वृद्धता के प्रथम-लाभ में वरुण
में अपनी भाषा—इस देश की बहुजन-स्वीकृत राष्ट्र-भाषा हिन्दी का
विकास ही नहीं करना चाहता ।

मैं इस बात का घोर विरोधी हूँ कि हिन्दुस्तानी नामक किसी-किसी-कदियत भाषा के सृजन के नाम पर हिन्दी का स्वरूप विकृत किया जाय। प्रश्न सीधा-सा है—क्या आप हम राजनीतिक, अर्थ-शास्त्रीय, वैज्ञानिक, गणित विषयक, ज्यामिति शास्त्रीय आदि शब्दों को संस्कृत से, लेने को तैयार हैं ? अथवा क्या ये नित नव किन्तु सतत प्रयोगों में आने वाले शब्द अरबी या फारसी से लिये जायेंगे ? मेरे देश की ऐतिहासिक परिपाटी, संस्कृति, जन-रुचि एवं जन-हित भावना का यह आदेश है कि वर्तमान आवश्यकता एवं वर्तमान विचार-धारा को व्यक्त करने वाले अभीष्ट शब्द संस्कृत अथवा देशी भाषाओं से ही भावें। अतः यह स्पष्ट है कि यहाँ हिंदी भार उर्दू का संघर्ष होगा।

इस संघर्ष को दूर करने का एक-मात्र उपाय यह है कि अपने देश की विटयना को ध्यान में रखकर हम इस देश की दो राष्ट्रीय भाषाएँ मान लें। गत वर्ष इस संबंध में मैंने कहा था कि हिन्दी तथा उर्दू, दोनों को राष्ट्र-भाषा मान लेने पर निःसन्देह हिन्दी वह राष्ट्र-भाषा होगी जिसे देश का बहुमत सम्भोगेगा, और उर्दू वह राष्ट्र-भाषा होगी जिसे देश का एक महत्त्वपूर्ण अल्पमत बिना समझे भी—राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन देखकर सन्तोष-लाभ भोगेगा। 'बिना समझे भी'—ये शब्द मैंने जान-बूझ कर रखे हैं। गुजरात, महाराष्ट्र, काठियावाड़, कर्नाटक, उत्तरप्रदेश, बंगाल, आसाम, मध्यप्रान्त, बिहार, राजस्थान आदि प्रांतों का मुसलमान संस्कृत-मिश्रित भाषा ही समझ सकता है। वह अरबी-फारसी के शोक से शोकित भाषा को नहीं समझ पाता है। पर, किया क्या जाय ? विषयता है। आज के युग में मुसलमान आई हमारी उपार्थ उपार्थ, सत्य एवं उपादेय बात को स्वीकृत करने के लिए,—इस बात को मानने के लिए कि आरतीयता के द्वारा ही, अर्थात् संस्कृत शब्द-भंडार के द्वारा हुई अनिश्चयिक के प्राण्यम से ही, वह विशुद्ध इस्लाम के दर्शनों को हृदयंगम करने में समर्थ हो सकेगा—तैयार नहीं हैं। ऐसी

में बहू पूर्व घैर्य है, जब तक हममें कर्मठता का किंचित्-मात्र भी अंश है, तब तक हिन्दी मर नहीं सकती। मैं तो स्वप्न-दर्शी हूँ। मैं उस भविष्य का स्वप्न देख रहा हूँ, जब भारतीय मुसलमान, अपनी वर्तमान अज्ञान-निद्रा को परित्यक्त करके उठ खड़ा होगा और वह देखेगा कि वास्तविक भारतीयता को ग्रहण करने के पर्यन्त ही वह सचा, अच्चा, मुसलमान बन सकता है। और तब वह 'जय-जय हिन्दी, जय-जय हिन्द' के उद्घोष से दिग्दिगन्त को प्रकंपित करता हुआ भारतीय इतिहास में एक नए अध्याय का प्रारम्भ करेगा। स्मरण रखिये, हिन्दी तो इस देश के हिन्दू-मुसलमानों की संयुक्त, सम्मिश्रित भाषा है। हमारी हिन्दी केवल मूर और तुलसी ही की नहीं है, वह अब्दुलरहीम खानखाना, आपसी, रहीम और रसखान की भी है। अतः इस बात को हम सदा स्मरण रखें कि हिन्दी का पच समर्थन करते समय हम संकुचित साम्प्रदायिकता को न अपनायें।



परम्पराएँ उसके उपमा, रूपक आदि अलंकार, मुहावरे, श्लोक, व्याकरण, वाक्यों का संगठन आदि सब देश की संस्कृति और वातावरण से सम्बन्धित होते हैं।

कुछ देरी रुढ़ शब्दों को छोड़कर हमारी भाषा के प्रायः सभी वस्त्र और सज्जव शब्दों की उत्पत्ति का पता चल जाता है और उनके द्वारा हमको उनके सांस्कृतिक इतिहास की झलक मिल जाती है। भाषा-विज्ञान का एक विशेष विभाग ही इससे सम्बन्ध रखता है।

हमारी भाषा में गो से बने हुए शब्दों की बहुतायत इस बात का प्रमाण है कि हमारी संस्कृति गो प्रधान है। गवाड़ (सिद्धकी) गौ की घोंछ की तरह शायद पहले गोल होती होगी; अंग्रेजी में एक प्रकार की झालटेन Bulls eye lantern कहलाती है गोष्टी (गायों के बैठने की जगह अथ प्रायः मनुष्यों की ही गोष्टी होती है) गवेपयाँ (गाय खोजने की इच्छा) गोपन (क्षिपाना; गाय को पालने या रखा करने के लिए उसे क्षिपाकर रखते थे) गुहार (पुकारना; गोहार, कोई गाय को खिये जाता है, इस तरह की पुकार) गोपद (गाय के सुर का 'गदा; गोपद इव ठरई') गोरस, गव्य, गोमय या गोबर (गोबर जैसे घोंसों का भी होता है) गोमूर्तिका (चित्रकान्य में एक प्रकार की छन्द-रचना) गोधृष्टि (गौघों के लौटने का सायंकाळ का समय; यह बेजा विवाह के लिए बहुत शुभ मानी जाती है) गोपुच्छ (गावदुम खोज की कहते हैं) गुरभी (धरोसी या घोंसीडी जिस पर गोरस गरम किया जाता

होशियार और स्वस्थ भी समझा जाता था। इसी प्रकार प्रचीन भी वही होता था जो धीणा के बजाने में होशियार हो। ये दोनों शब्द हमारी संस्कृति से सम्बन्धित हैं। दुलहा शब्द दुर्लभ से बना है और इस बात का चोख है कि हमारे समाज में घर कितनी सुरिक्क से मिलते हैं। दुहिता का भी ऐसा ही इतिहास है। माता-पिता को वे दुहती रहती हैं इसी से वे दुहिता कहलाती हैं। हिन्दू संस्कृति में कन्या को आजीवन देते ही रहते हैं। इसी से शायद उसका पृषु दाय नहीं किया है। कुछ विद्वानों का खयाल है कि गौ-दोहन का कार्य प्रायः कन्यार्य करती थीं इसलिए वे दुहिता कहलाती हैं।

नापित शब्द का इतिहास उसके गौरव को बढ़ाने वाला नहीं है फिर भी उसमें यह ज़रूर विदित होता है कि प्राचीन लोग और कर्म में शुद्धता का कितना ध्यान रखते थे। नापित का मूलरूप है स्नापित, जो निहलाया गया है। और कर्म करने से पहले नाई को स्नान कराया जाता था। नाई शब्द चाहे स्वतन्त्र रूप से धाबी का हो जिसका अर्थ है मीत की खबर लेने वाला किन्तु यह नापित से भी बन सकता है। पत्र शब्द बतलाता है कि पहले पत्र भोजन या ताड़-पत्र पर लिखे जाते थे। शहा शब्द पट्टिया से बना है। पहले समाने में जमीन के अधिकार-पत्र प्रायः तौबे आदि की पट्टिया पर लिखा दिये जाते थे जिससे चिरकाय तक नष्ट न हों। इस प्रकार बहुत-से शब्दों के पीछे इतिहास लगा हुआ है और इस इतिहास में हमारी संस्कृति का इतिहास है। इसीलिए भाषा और शब्दों का इतना महत्त्व है। कवि का जो महत्त्व है वह शायर का नहीं। वह एकदम कवि को परमात्मा का समोत्री बना देता है। “कवि प्रणमयानुरागितम्” राजा शब्द का अर्थ है जो प्रमत्नता दे; वह बात बादशाह में नहीं आ सकती। न राजा की सांस्कृतिकता बेगम में है, क्योंकि बेगम का सम्बन्ध बेग से है जो मिर्जा लोगों के नाम के आगे लगता है। बांकी का सम्बन्ध घोषणी अथवा दरत से लगाया जाता है लेकिन हमका

सम्बन्ध घीन से भी है। जो धुले वह धोती। यह भी एक स्वच्छता का चित्र उपस्थित कर देती है। पात्र की पवित्रता बरतन में देखन को बड़ी मिलती। शायद पदत्रे पत्रों के ही पात्र बनाये जाते हों। शक के साथ जो प्राचीनता के सम्बन्ध तन्तु जुड़े हुए हैं वे सबक में नहीं, और न ग्रन्थ पोथी, पुस्तक की बात किताबों में आती है। ग्रन्थ करते हैं प्राचीनकाल के सुखे पत्रों की पुस्तक को, जो ढोरे से बाँधी जाती थी और कभी-कभी बीच में छेद करके पत्रों को गाँठ के साथ बाँध दिया जाता है।

शब्दों की भाँति ही हमारे मुहावरे भी हमारी संस्कृति के द्योतक हैं। कुछ मुहावरे तो प्राचीन गाथाओं में प्रथित हैं। भगीरथ प्रयाग मंगा की महिषा का द्योतक है। दधीचि की हृष्टियाँ भारतीय रथाग का भादराँ हमारे सामने खे आती हैं। त्रिशंकु गति दो शक्तियों के संघर्ष में जो एक प्वनित के बीच के छटके रहने की गति होती है, उसकी एक सजीव मूर्ति हमारे सामने आ जाती है। सुदामा के तन्दुबों में एक ओर सुदामा की दीनता और दूसरी ओर कृष्ण की मित्रवत्सलता हमारे सामने आ जाती है। पत्र-पुष्प में 'पत्र, पुष्प, फल तोय, यो मे भक्त्या प्रयच्छति' की याद आ जाती है। विदुर का शाक और शबरी के बेर भगवान् के दीनों के प्रति कृपा भाव के द्योतक हैं। भीष्म की प्रतिज्ञा एकदम हदता की मूर्ति खड़ी कर देती है।

हर एक देश के मुहावरे वहाँ के वातावरण से तथा वहाँ के लोगों की मनोवृत्ति से सम्बन्ध रखते हैं। अंग्रेजी मुहावरा 'Killing two birds with one stone' वहाँ के लोगों की शिकारी हिसारक वृत्ति का परिचायक है। हमारे वहाँ इसका शाब्दिक अनुवाद 'एक दंज में दो पंखी' अवरय किया गया है किन्तु इसमें वह आनन्द और सरसता नहीं जो 'एक पंथ दो काज' में है। मौन भंग करने के लिए अंग्रेजी में मुहावरा है 'Breaking the ice' ठंडे देश में गरम चीज की जरूरत होती है! बरफ वहाँ शुष्कता और असहृदयता का

गोपक है, इण्डिय वार्ड (Welcome welcome) से हमी वार्ड इत्य मन्त्रा का गीतक करने की शुरुवात होती है। हमी मादिप के काम-काजार्थ सर्वमान्य तथा वेद के वातावरण तथा प्रतिष्ठित परम्पराओं से सम्बन्ध रखने वाले मादिप के उद्योगों में जो उद्योग व्यवस्था का है वह श्रेष्ठ गुण का नहीं है। दार, मूल, पैर, पैर मन्त्री तन्त्रियों का वाच्य व्यवस्था बन जाता है। देखिये गोपकजी की श्रीगणेशस्तुति विभिन्न धर्मों की केंद्र से ही उद्योग होते हैं।

‘नय केंद्र सोपन, केंद्र गुणकर, केंद्र वद ईशानगुरु’
 मंत्रों की उद्योग मीन, मूल और मंत्रक से ही जाती है ! मंत्रों और मंत्रों से उद्योग ही जाती है। मंत्रों की उद्योग मूलक और विम्वारक (वहे कुँरक से, जो वाच्य होता है) से ही जाती है। हर एक मादिप की वाच्य-व्यवस्था परम्पराएँ प्रतिष्ठित होती-व्यवस्था के बिना वाच्य को प्रतीक माना गया है। इति-व्यवस्था देव-वाच्यों का अधिक महत्त्व है इण्डिय तो कर्तव्यदाय मेघ को दूत बना कर मेघदूत-वैसा वाच्य-वाच्य लिख लहे।

उद्गुं वाच्यों से हमको उनकी विधि की शिक्षाएत तो है ही, किन्तु हमसे बढ़कर शिक्षाएत इस बात की है कि उद्गुंने कविता मन्त्र में लिखी है और मन्त्रक और परम्पराकाम की व्यवस्था है। वे मन्त्रक मन्त्र में मन्त्र के गीत गाने हैं, वे हिमाचल के स्थान में कोह-काच की व्यवस्था है। उनके लिए उद्योगता का आधार है इतिमन्त्रार्थ, कर्ण और इपीपी का वे नाम भी नहीं लेते। सौन्दर्य को सीमा मनुष्य और उद्योगता माने जाते हैं। उद्गुं में रति और काम का नाम का भी उल्लेख नहीं होता है, मीशोरवाँ चन्द्र और इन्साफ के प्रतीक माने जाते हैं, रामायण का वह स्वप्न भी नहीं देखते हैं। शराब और साखी उनकी कविता के त्रिप विषय है, गोपी-गवाक और गोरस से वे को-रों दूर रहते हैं। विवाह में वे सीख के कपार की भाँति मुनवा पसंद करते हैं, किन्तु

हमारे यहाँ ग़ज़ार में बीभत्स का आना एक बे-मेल बात समझी जाती है। नेत्रों की उपमा वे नरगिस, लाळा या सौसन से देते हैं, कमल, कुसुम या खजूर का उनको ध्यान भी नहीं आता है, हिरण (बाहु) की आँसुओं को वे नहीं भूल सकते हैं। आदमी के कद की मुशादबत वे सर्व या सनोबर से देते हैं। तमाल का उनको ध्यानभी नहीं आता है। शीरी-भरहाद या कैला-मजनुँ उनके लिए आदर्श प्रेमी हैं, अपा-अनिरुद्र या राधा-कृष्ण का स्मरण भूल से कर लें तो कर लें, करना नहीं।

प्रत्येक देश की परम्पराएँ और क्वाल अलग-अलग होते हैं और वे उस देश की भाषा और संस्कृति से सम्बद्ध होती हैं। इसीलिए हमको जो अपनी भाषा में आनन्द आता है वह दूसरे की भाषा में नहीं आता है। हमारे संस्कार दूसरी भाषा को ग्रहण करने में हमारा साथ नहीं देते हैं। हमको अन्य संस्कृतियों से वैर नहीं है वे भी फूलें-फूलें, किन्तु उनके फूलने-फूलने के लिए हमारी भाषा व संस्कृति का बलिदान न किया जाय अपना निजत्व खो बैठना अपने को ही द्रिद बनाना नहीं है, वरन् संसार की सम्पन्नता का अपहरण करना है।

राष्ट्र-भाषा का संघर्ष

(डाक्टर मैथिलीशरण गुप्त)

हमारे राष्ट्र की स्वतन्त्रता का संघर्ष सफलतापूर्वक समाप्त हो गया है, परन्तु शेर है कि राष्ट्र-भाषा के लिए आज भी संघर्ष हो रहा है। हिन्दुस्तानी के बहाने से उर्दू अपने लिए ही नहीं अपनी उस अर्थात्मिक लिपि के लिए भी हठ करती है जो हमारे किसी भी प्रदेश की सम्भावित के लिए उपयुक्त नहीं है। कारण कि देश की धार्मिक और व्यापारिक भाषा अब भी एक ही जिसके शब्द सारे ही प्रांतों के लिए सहज बोधगम्य हैं, परन्तु हिन्दुस्तानी उन्हें लेकर उर्दू नहीं रह जाते और इसी के लिए इतना साम्राज्य किया जाता है।

उर्दू लिपि के पक्ष में कहा जाता है कि उसमें लिखे हुए नाम को कुछ-का-कुछ बदलकर एक के बदले दूसरा कैदी फाँसी पर लगी नहीं खटका दिया गया, पर इसके राज्य में ऐसा होना असम्भव भी नहीं। कारागार के प्रतिद्वन्द्वी कार्यकर्ता श्री धीरेश्वर अच्यर जेल में धीरेश्वर के बदले न जाने क्या और अच्यर के बदले शहीर से पड़े गए थे। भाग्य से वे फाँसी के कैदी न थे, न कोई शहीर बन्दी भी वहाँ था। फारसी लिपि के कारण पद्मावत की कम दुर्दशा नहीं हुई। हिन्दुस्तानी भले ही अत लिपि में चल सके, हिन्दी तो नहीं चल सकती।

कोई आश्चर्य नहीं। यदि प्रधान मन्त्री परिचित अवादाखानजी

हिन्दुस्तानी बोलते जिस बातवरण में वे पले हैं उसमें वही सम्भव था। भले ही वे उर्दू पढ़े हों या न पढ़े हों, आश्चर्य तो यही है कि वे निःसंकोच कुछ संस्कृत शब्द भी बोल जाते हैं।

कलकत्ता-कांग्रेस में हिन्दी का घोष सुनकर स्वर्गीय मोतीलालजी ने कहा था आप लोग सामोठ हो जाइए। नहीं तो मैं ऐसी हिन्दी बोलूंगा कि आप लोग भी न समझेंगे।

ऐसी हिन्दी से क्या आशय है। इसे कहने की आवश्यकता नहीं; भारतवर्षमें उर्दू जनता से दूर-दूर ही रहती आई है। उसके एक उस्ताद दिल्ली से लखनऊ शयवा लखनऊ से दिल्ली जा रहे थे जो गाड़ी उन्हींने किराए पर की थी, उसका गाड़ीवान समय काटने के लिए कुछ बात करने लगा। उस्ताद ने एक आघ बार हॉ हूँ कर कहा भाई गाड़ी से उतर जाने दे तेरी बातचीत सुनकर मैं अपनी जवान नहीं बिगड़ने दूँगा।

मुसलमानों के शासन में अरबी-फारसी के बाद उर्दू उत्पन्न हुई। अंग्रेजों ने भी उसे शासन में बनाए रखा, हिन्दुओं को भी यह गले पड़ी दोलक बजानो पड़ी। आजीविका कठिन होती है परंतु सब जानते हैं कि गाँव में उर्दू में लिखा हुआ हुक्मनामा पढ़ने के लिए भादसो डूटना कितना कठिन था।

महामान्यवर डाक्टर सप्रू का कहना है कि उर्दू के बनने में हिंदू मुसलमान दोनों का हाथ है। अथर्व होगा, परन्तु उर्दू के आये-दयात में हिन्दुओं का कोई हिस्सा नहीं।

कितने ही कारमोरी हिन्दू उर्दू के बड़े श्रेष्ठक हुए हैं यह कोई बड़ी बात नहीं। बड़ी बात नहीं है कि अथर्व और अथर्व के अथर्व अपना अस्तित्व जैसे-का-तैसा बनाए रख सकें।

उर्दू के विपरीत हिन्दी राज्याध्य के बिना केवल अपने ही सब पर बड़ी रही है। कहा जाता है उर्दू वर्तमान हिन्दी से पढ़ने की है

परन्तु भारतीय लोकमान्य से पहले रहने के कारण ब्रिटिश राजतंत्र यहाँ रहने का अधिकारी नहीं हो जाता।

सच तो यह है कि ज्यों ही उर्दू ने साहित्य के क्षेत्र में भारतीयों को फारसी अथवा फारसी ने उससे अथवा अधिकार छीन लिया और 'येन तेन गम्यताम्' कहकर उसे छोड़ दिया।

उर्दू का जन्म यहाँ हुआ इस कारण यह भी यहाँ भागी बन सकती है। परन्तु अपनी सीमा में रहकर उसका शरीर संकर और मन विदेशी है। इस कारण यह हमारी राष्ट्र-भाषा नहीं बन सकती। जो लोग उसे प्रोत्साहन देते हैं वे दूसरा पाकिस्तान बनाने का रहे हैं मुसलमानों की उचित-अनुचित माँगें मानने जाने से ही पहला पाकिस्तान बना है।

जिन्ना माटव का दो राष्ट्रों का विषय उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी के द्वारा ही फैला और हमारे प्रांत के मुसलमान ही उसके नरों में पाकिस्तान के लिए सबसे अधिक चिन्तित, परन्तु अब यह स्वप्न हट गया है। हिन्दुस्तानी की अन्तिम अंगवार्दें रोष रह गई हैं। हज़ारों दिनों अन्तर्महत्त में हिन्दुस्तानी का एक सम्मेलन हुआ था। मुना है उसके अध्यक्षीय विषय के निवेदन पत्र में 'इस्लामवाद' और भागी विषय के निर्माण-पत्र में 'स्वागत' शब्द का व्यवहार किया गया था। ऐसा करके हिन्दुस्तानी भाषा को एक सत्य स्वीकार कर लिया। यह अथवा ही हुआ।

उचित तो यह है कि हमारे भाई जायसी, रहीम और रजमान की परम्परा बनाए रखें। अपने हाथों उसे नष्ट न कर दें। जिन लोगों ने यहाँ अथवा अथवा और अंग्रेज़ी अथवा। वे अपने ही देश की भाषा न छोड़ें। इस बीच ही संस्कृत के शब्द उनके लिए बहुत नहीं हैं जिन की विभिन्न शाखाओं के लिए जो भाषाओं परामर्शिक शब्द बनाने चाहेंगे वे तो उसके लिए एक ममान होंगे वह तो सर्वथा परामर्शिक है कि हमारा देश उनके लिए परामुत्तानी ही अथवा

यहाँ अक्षय कोष उपस्थित है और रवाम जैसे अन्य देश भी आज भी जिसके मन्दों का व्यवहार करते हैं।

हिन्दुस्तानी का निर्माण करके जो लोग अपने नेतृत्व की रक्षा करना चाहते हैं वे सोमनाथ के मन्दिर के पुनर्निर्माण पर तो टीका-टिप्पणी कर सकते हैं और यह नहीं कह सकते कि अयोध्या, काशी और मथुरा की वे मस्जिदें लौटा दी जायँ जो मन्दिर तोड़कर बनाई गई हैं और यह स्पष्ट रूप से प्रकट कर रहे हैं कि न उनमें धर्म है, न संस्कृति। तथा जो हाथ उठाकर विजेताओं के बलात्कार की घोषणा वे अवरण कर रही हैं और बहुसंख्यक जनता को चिढ़ाकर कटुता बनाये चलती हैं।

अरब से ईरान आने पर अहमद स्वभावतः खुदा हो गया, परन्तु भारतवर्ष में आकर वह ईश्वर न हुआ इसी एक के न होने में सौ दुष्परिणाम हुए; परन्तु आपस के झगड़े यहाँ न रहे तो हमारे वे नेता कहीं जायँ जिनकी पूछ उन्हीं के कारण है !

कुछ भी हो, उनका यह विरोध व्यर्थ होगा। उसे यहाँ भी बंदी-से-बंदी जनता का बल प्राप्त है। जिसने उसे राष्ट्र-भाषा के लिए चुना है, प्रान्तों के साथ केन्द्र को भी उसे मानना होगा। हिन्दी अपने लिए पक्षपात नहीं चाहती, न्याय चाहती है। सत्य उसके पक्ष में है; इसलिए जीत भी उसकी निश्चित है। कोई किसी का जन्म-सिद्ध अधिकार नहीं रोक सकता।

हम अपने अधिकारियों की कठिनाई नहीं बढ़ाना चाहते। अच्छा है, वे स्वयं इसे न बढ़ने दें। लोकतन्त्र में अक्षमता यदि बहुमत पर छा जाना चाहे तो उसे ऐसा नहीं करने दिया जायगा।



एव यह था कि सब समस्याओं पर गम्भीर दृष्टि डालने के लिए भाषाओं पर रंगीन ऐनक लगाने की आवश्यकता नहीं रही। अब भाषा की समस्या का निर्णय करने से पूर्व यह सोचने की आवश्यकता नहीं हो कि इस सम्बन्ध में विदेशी सरकार क्या कहेगी या मि० अन्तुलहक अथवा कायदे-शासन का क्या फलवा होगा ? वे अपना घोरिया-बचना बौध्दिक स्वाभिमत स्थानों को चले गए, और हमें अपने हित ग्रहित की बात सोचने के लिए सर्वथा स्वतन्त्र छोड़ गए।

(१) हमारे देश की भाषा हिन्दी होनी चाहिए, क्योंकि यह सर्व-सम्मत है कि राष्ट्र-भाषा यह हो सकती है, जिसे देश के अधिक-से-अधिक व्यक्ति समझ सकें। यह भी सर्व-सम्मत है कि देश में हिन्दी भाषा को समझने और बोलने वालों की संख्या अन्य सब भाषाओं की अपेक्षा अधिक है। पुण्ड्र-प्रान्त, बिहार, मध्यप्रदेश, राजपूताना, मालवा जैसे बड़े प्रान्तों में जन-साधारण की भाषा हिन्दी ही है। पंजाब, बम्बई, बंगाल आदि प्रान्तों में हिन्दी का बहुत व्यापक प्रसार है। महाराष्ट्र और आसाम में भी हिन्दी-भाषा द्वारा मनुष्य का काम चल सकता है। अब तो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और हिन्दुस्तानी-प्रचार-समिति के प्रयत्नों से मद्रास प्रान्त में भी हिन्दी जानने वालों की संख्या ब्राह्मों तक पहुँच चुकी है। हम यदि यह कहें कि भारत के ७५ फीसदी निवासी हिन्दी समझ सकते हैं, और ६० फीसदी निवासी हिन्दी तथा हिन्दी से सम्बद्ध भाषाएँ बोल सकते हैं, तो अस्तुति न होगी।

(२) भारत की राजनीति में कृत्रिम साम्प्रदायिकता के प्रवेश से पूर्व हिन्दी, हिन्दू और मुसलमान दोनों की सम्मत भाषा थी। मध्य-काळ के अनेक मुसलमान कवियों ने हिन्दी में उत्तमोत्तम कविताएँ की हैं। मलिक मोहम्मद जायसी, शेखअन्तुल वाहिद, विजयामी शेखराई, रसखान, रहीम, सूफ़ी कवि उस्मान आदि कवियों के अतिरि

बारासाह अकबर, बदायूँगीर और गण्डकद्वी और श्रीरंगदेर के पुत्र आक्रम शाह को हिन्दी कविताएँ भी प्राप्त होनी हैं।

अनेक मुगलमान बारासाहों में अपने मित्रों तथा शूल-यंत्रों में हिन्दी का प्रयोग किया है।

(३) संस्कृत और प्राकृत भाषाओं से सम्बद्ध होने के कारण देश की अधिकांश प्राचीन भाषाओं से हिन्दी का अत्यन्त निकट सहोदात्मकत्व है।

(४) हिन्दी की जिवि देवनागरी है, जो अपने-आपमें परिपूर्ण और वैज्ञानिक दृष्टि से उत्कृष्ट होने के अनिश्चित बंगाली, मारती, गुजराती आदि अनेक जिवियों में बहुत अधिक मितवर्ती है। देवनागरी जिवि की भेदना और पूर्णता के विषय में इतना कुछ कहा जा चुका है कि उसे यहाँ दुहराना व्यर्थ है।

(५) हिन्दी के पाप साहित्य का ऐसा बहुमुख्य भण्डार है कि उससे किसी भी भाषा का मूलक ऊँचा हो सकता है। चन्द्र बरदई से लेकर आज तक अनेकों, कवियों और गुरुओं ने हिन्दी में जो रचनाएँ की हैं, वह सारे देश की बहुमुख्य सम्पत्ति हैं। वस्तुतः सांस्कृतिक दृष्टि से वर्तमान भारत को ३००० वर्ष पुराने भारत से जोड़ने वाली गुरुकुलएँ वह रचनाएँ ही हैं। यह कौन नहीं जानता कि तुलसी, सूर, कबीर और मीरा की वाणी सारे मध्यकालीन भारत की वाणी है, केवल किसी एक प्रान्त या सम्प्रदाय की वाणी नहीं। इन तथा अन्य मध्यकालीन हिन्दी कवियों ने अपने वाङ्मय के रूप में राष्ट्र की जो पहचान दिया है, वह इतना बहुमुख्य और उत्कृष्ट है कि उससे आधुनिक हिन्दी भाषा-विकास की किसी भी समकालीन भाषा की प्रतिस्पर्धा में आठ ठाकर सबी रह सकती है।

(६) हिन्दी का मूल श्रोत संस्कृत है। हिन्दी को भार या शब्द स वस्तु को भी आशयकता हो, वह इसे संस्कृत के अक्षय कोष में हो सकता है। हिन्दी के लिए संस्कृत का शब्द-भण्डार सुजा

रहने के कारण, उसकी भाव-प्रकाशन की शक्ति असीम है। संस्कृत की सदायता से आपको हिन्दी द्वारा ऊँचे-से-ऊँचे पेचीदा-से-पेचीदा और कोमल-से-कोमल भाव को प्रकाशित करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती।

(●) हिन्दी की परम्परा भारतीय संस्कृति की परम्परा से अत्यंत प्रोव है।

वह तो निरिच्छत सिद्धान्त है कि कोई राष्ट्र अपनी प्राचीन संस्कृति से अलग होकर जीवित नहीं रह सकता। जैसे नाव बिना कोई भवन सदा नहीं सकता, इसी प्रकार राष्ट्र भी संस्कृति से पृथक् हो जाय तो अवश्य गिर जायगा।

ये कारण हैं, जो हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा होने का अधिकारी बताते हैं।

इसके विपरीत राष्ट्र-भाषा-पद की दूसरी दावेदार (हिन्दुस्तानी) के दावे की परीक्षा करें तो हम हम परिग्राम पर पहुँचेंगे कि हिन्दुस्तानी भारतकी राष्ट्र-भाषा बनने की योग्यता नहीं रखती, क्योंकि वस्तुतः 'हिन्दुस्तानी' नाम की खिचड़ी भाषा भारत के दो-एक जिलों को छोड़कर कहीं भी नहीं बोली जाती। जहाँ बोली जाती है, वहाँ भी वह हिन्दी या उर्दू का ही एक रूप है, अलग कोई भाषा नहीं। उर्दू का राष्ट्र-भाषा होने का दावा पाकिस्तान की स्थापना के साथ ही कारिज हो चुका है। उस दावे के खारिज हो जाने पर ही तो 'हिन्दुस्तानी' के दावे पर बहुत जोर दिया जा रहा है। उर्दू भारत की राष्ट्र-भाषा होने के योग्य नहीं थी, तो भी भाषा तो थी। हिन्दुस्तानी तो वस्तुतः अलग भाषा ही नहीं है। कोई हिन्दी को हिन्दुस्तानी कह देता है, तो कोई आसान उर्दू को। वस्तुतः उसका अलग कोई अस्तित्व नहीं है।

प्रयाग से एक 'मया हिन्द' नाम का पत्र निकलता है। वह हिन्दुस्तानी भाषा का प्रधान पत्र है। इसके सब लेख देवनागरी और फारसी दोनों लिपियों में दिये होते हैं। उसकी भाषा का मूलाङ्गीकृत—

“तवासीय यानी इतिहास बताता है कि जब मुल्क की गैर-मुस्लिम मुल्क से लड़ाई हुई है तो मुसलमानों ने अपने देश से विश्वास-घात करके दिया है।”

इस वाक्य को पढ़िये तो आप को विदित होगा ‘स्तानी’ भाषा का वाक्य बनाने के लिए एक ‘विश्वास-घात’ दिया गया है, अन्वयात् माता वाक्य उद्’ का ही पुसोध नहीं। यदि लेखक ऐसा न समझता तो यह गव ‘इतिहास’ शब्द उक्तर पैबन्द लगाने का ध्यान न करत क्व निम्नलिखित रीति से लिखा जाता तो निःसंदेह वह में सुगमता से समझा जा सकता था।

“इतिहास बताता है, कि जब किसी मुस्लिम देश की वे लड़ाई हुई है, तो अमुस्लिम देश के मुसलमानों ने से विश्वास-घात करके मुसलमान का साथ दिया है।”
यह सरल हिन्दी का वाक्य ‘नया हिन्द’ की बोम्ब्र दिग् से कहीं अधिक सरल है।

महर्षे वाशा रलोक मा(तोष-विधान) के उम समविदे का है हिन्दुस्तानी भाषा के गौरव को निह करने के लिए तैयार किया है। वह समविदा देवनागरी और कास्मी, दोनों लिपियों में प्रकाशित हुआ है। उमे पढ़िये। वह तो सीधा उद्’ भाषा का समविदा कहीं-कहीं काबो बादर पर हिन्दुस्तानी का नाम सार्थक करने के लिए हिन्दी शब्दों के मकेर पूख रॉक दिये गए है, अन्वयात् वह तो विधान के संघेबी समविदे का सीधा उद्’ अनुवाद है। उम समविदे के तो सार्थका स्पष्ट कर दिया है, कि हिन्दुस्तानी को राष्ट्र-भाषा बनाने का प्रयत्न वस्तुतः राष्ट्र-भाषा पर पर विधानके प्रयत्न का कृतान्तर ही है। फिर विमोद की बात यह है कि विधान तो ‘हिन्द’ का ही ‘हिन्दी’ न होकर ‘हिन्दुस्तानी’

हिन्दी के लेखक अपनी हिन्दी को हिन्दुस्तानी बनाने के लिए जो पाप काम में जाते हैं, वह यह है कि बीच-बीच में उर्दू के कठिनतम शब्दों की गारें बाँधते जाते हैं। दोनों भाषाओं के बेजोड़ शब्दों का मिश्रण बनाकर हिन्दुस्तानी के नाम से बाजार में सजाया जा रहा है।

हिन्दुस्तानी के पक्ष में प्रायः यह युक्ति दी जाती है कि यह देश-वासियों के लिए सुगम है। इस युक्ति का उत्तर देने के लिए हिन्दुस्तानी के प्राचार्य मौलाना अबुलकलाम आज़ाद के किसी लेख के किसी वाक्यों को पढ़ जाइये, या उनकी तकरीर सुन लीजिए। यदि प्राय उर्दू के अच्छे विद्वान् न हों तो प्राय मौलाना के उस अभिप्राय को नहीं समझ सकेंगे।

'हिन्दुस्तानी' नाम से जिस भाषा का प्रचार किया जा रहा है, वह वस्तुतः भारत के किसी प्रान्त या प्रदेश की भाषा नहीं है। यह एक नई षडन्त है, जो न सरल है, और न सुन्दर है। उसका भारत के प्रतीत काल से कोई सम्बन्ध नहीं, और न ही किसी काम का साहित्य है। फिर उसकी लिपि भी कोई नहीं है।

यदि गम्भीरता से विचार करें तो प्रतीत होता है कि हिन्दुस्तानी प्रचार का मुख्य उद्देश्य भारत से विदा होती हुई उर्दू और उसकी लिपि को दीर्घ जीवन प्रदान करना ही है। हिन्दुस्तानी भाषा की न बुनियाद है, न दीवारें। वह एक नई सैवार की हुई षण्ट है, जिसे कुछ देशवासी राष्ट्र के सिर पर रख देना चाहते हैं। इससे देश का क्या होगा—भारतियों की यह संघर्षाग्नि, जो हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को राष्ट्र-भाषा मान लेने से सन्तुष्ट रह ही सकती है, बिरकाद तक सुन्नतगी रहेगी, और सम्भव है किसी दिन चापमठ प्रचरक हो उठे। अन्त में राष्ट्र-भाषा तो हिन्दी बनेगी ही, कुछ दिनों प्यर्द का विठण्डावाद और चञ्चल रहेगा, जिससे देश का अनिष्ट ही होगा।

यह सम्भवतः बहुत-से देशवासियों को पिटित मदी कि हमारे

देश के प्रधान मंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू की हिन्दुस्तान
कोई हिन्दी शब्द अधिक प्यारा है। धारने इन दोनों शब्दों
पुस्तक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक The Discovery of India में
है। धारने लिखा है—

“शाब्दिक 'हिन्दुस्तानी' शब्द हिन्दुस्तान के निवासी के वि-
प्रयुक्त होगा है, क्योंकि हिन्दुस्तान में ही हिन्दुस्तानी बना है; परन्तु
यह बहुत लम्बा शब्द है, और हिन्दी के समान इस हिन्दुस्तानी शब्द
के साथ कोई ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध जुड़ा हुआ नहीं
है। पुरातन भारतीय संस्कृति के लिए 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग
असम्भव ही, वाहियात प्रतीत होगा।”

स्वतन्त्र भारत के शासन-विधान के अन्तिम निर्णय के लिए विधान-
परिषद् का महत्वपूर्ण अधिवेशन नहीं दिल्ली में हो रहा है। सदस्यों के
बहुत भारी उत्तरदायित्व है। उन्हें भारत की भारी संतानों के साथ
का निर्णय करना है। अन्य प्रश्नों के साथ यह भी निर्णय करना है कि
यह स्वतन्त्र भारत के विधान का निर्माण भारत की संस्कृति की रक्षा
पर करना चाहते हैं, या किसी नव-कल्पित मरु-भूमि के घरातल पर ?
यदि वे प्राचीन के आधार पर भविष्य का निर्माण करना चाहते हैं,
यदि वे देश की भारतीयता को जगृत करने वाले उन महापुरुषों के
प्रयत्नों को व्यर्थ नहीं कर देना चाहते, जिनमें, सबसे अन्तिम, परतु
प्रयत्न उज्ज्वल नाम महात्मा गांधी का है, तो उन्हें नये विधान
निर्माण करते हुए यह ध्येय सामने रखना चाहिए कि स्वतन्त्र भारत
विक्रम शरीर में भारतीय संस्कृति रूपी प्राणों का संचार होता रहे।

भाषा : साहित्य : देश

(आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी)

माना कारणों से इस देश में और बाहर यह बार-बार विज्ञापित किया जाता है कि इस महादेश में सैकड़ों भाषाएं प्रचलित हैं और इसीलिए इसमें अक्षयवृत्ता या एकता की कल्पना नहीं की जा सकती। मैंने विदेशी भाषाओं के जानकारों और विदेश के माना देशों में भ्रमण कर चुकने वाले कई विद्वानों से सुना है कि तथाकथित एक राष्ट्र व स्वाधीन देशों में भी दुर्जनो भाषाएं हैं और भारतवर्ष की भाषा-समस्या उनकी तुलना में नगण्य है। परन्तु अन्य देशों में यह अवस्था हो या नहीं, इससे हमारी समस्या का समाधान नहीं हो जाता। यूरोप की आँस में खराबी सिद्ध कर देने से हमारी आँस में दृष्टि-शक्ति नहीं आ जावगी ! फिर भी मैं आपको समर्थ्य कराना चाहता हूँ कि हमारे इस देश ने हजारों वर्ष पहले से भाषा की समस्या हल कर ली थी। हिमालय से सेतुबन्ध तक, सारे भारतवर्ष के घर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की भाषा कुछ ही वर्ष पहले तक एक ही रही है। यह भाषा संस्कृत थी। भारतवर्ष का जो कुछ रचनीय है वह इस भाषा के अण्डार में संचित किया गया है। जितनी दूर तक इतिहास हमें देखकर पीछे ले जा सकता है उतनी दूर तक इस भाषा के सिवा हमारा और कोई सहारा नहीं है। इस भाषा में साहित्य की रचना

एक हज़ार वर्षों से निरन्तर होती आ रही है। इसके
के पठन-पाठन और चिन्तन ने भारतवर्ष के हज़ारों
सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात खगे रहे हैं। और आज
मैं नहीं जानता कि संसार के किसी देश में इतने
दूर तक म्यास, इतने उत्तम मस्तिष्कों में विचारण
पाया है या नहीं। शायद नहीं है।

यों के मुएद बराबर इस देश में घाने रहे हैं और
अल्हदी सीख लिया है कि संस्कृत भाषा ही इस देश में
या हो सकती है। यह भारतवर्ष की भाष कही जाती है
का सबसे पुराना शिक्षा-क्षेत्र को अब तक पाया गया
थाला एक महाचत्र रुद्रदामा का शिक्षा-क्षेत्र है - जो
भग वेद-सौ वर्ष बाद सुदवापा गया था। इस शिक्षा-क्षेत्र
निराधरण कर दिया है कि जो ऐतिहासिक परिणों
गया था कि संस्कृत का सम्पूर्णान बहुत शक्ति
हों के हाथों हुआ है। इनमें कोई समदेह नहीं कि
से संस्कृत भाषा ग्यारा बेग से चन्न पनी थी, पर
गद्यत बल है कि उमवे पहले उमकी (संस्कृत भाषा
कदम दूर हो गई थी।

में सुमप्रमाण बारशाह भी इस भाषा की महिमा
थे। पदानों के विद्यों से नागरी अक्षरों का ही नहीं संस्कृत
प्रभिनय निद्व किया जा सकता है। परन्तु बाद में अमाने।
और अदाचनों और रात्र-कार्य की भाषा आगयी हो गई
क बड़े समुदाय के भाषा कारणों से सुमप्रमानी अर्थ के
र अक्षर: एक बहुत बड़े समुदाय की अर्थ-भाषा आनी
अवस्था अशिक्ष-से-अशिक्ष चार-वर्ष सी वर्ष तक रही
र भूख न जान कि इस समय भी भारतवर्ष की अर्थ
संस्कृत के ही शाने बर रहा था। भाषा शान-क

की अनुदनीय टीकाएँ, धर्मशास्त्रीय व्यवस्था के निबन्ध-ग्रन्थ, दर्शन और अध्यात्म विषयक अनुवाद और टीका-ग्रन्थ, और सबसे अधिक नग्य-न्याय और न्यायानुप्राणित व्याकरण शास्त्र इसी काल में लिखे जाते रहे। इस युग में यद्यपि संस्कृति ग्रन्थों में से मौलिक चिन्ता बराबर घटती जा रही थी फिर भी वह एकदम लुप्त नहीं हो गई थी। कुछ शताब्दियों तक भारतवर्ष एक विचित्र अवस्था में से गुजरा है। उसके न्याय, राजनीति और व्यवहार की भाषा फारसी रही है, हृदय की भाषा उक्त प्रदेशों की भाषाएँ रही हैं और मस्तिष्क की भाषा संस्कृत रही है। हृदय की भाषा बराबर किसी-न-किसी रूप में देशी भाषाएँ रही हैं। यह और बात है कि दूर पद जाने से पिछले हजारों वर्षों का देशी भाषा का साहित्य आज हम न पा सके, पर वह वर्तमान अक्षर रहा है और उसका सम्मान भी हुआ है। मैं आज इस बात की चर्चा नहीं करूँगा। मैंने अन्वय सप्रमाण दिखाया है कि इस देश में सदा काव्य लिखे जाते रहे हैं। सिर्फ यही बात नहीं है बल्कि उनका भरपूर सम्मान भी बराबर होता रहा है।

एक बार मेरे इस कथन को संक्षेप में आप अपने सामने रखकर देखें तो हमारी वर्तमान भाषा-समस्या काही स्पष्ट हो जायगी। मैंने अब तक जो आपको प्राचीनकाल के खँदहरों में भटकाना वह इसी उद्देश्य से। संक्षेप में इस प्रकार है कि—

- (१) भारतवर्ष के दर्शन-विज्ञान आदि की भाषा सदा संस्कृत रही है।
- (२) उसके धर्म-अचार की भाषा अधिकांश में संस्कृत रही है, यद्यपि बीच-बीच में साहित्य के रूप में और सदैव बोल-चाल के रूप में देशी भाषाएँ भी इस प्रयोजन के लिए काम में लाई जाती रही हैं।
- (३) आज से चार-पाँच-सी वर्ष पहले तक व्यवहार, न्याय और राजनीति की भाषा भी संस्कृत ही रही है। पिछले चार

भारत नवीन युग शुरू होता है। जमाने के अनिवार्य तंत्रणाघात ने हमें एक दूसरे किनारे पर लाकर पटक दिया है। हुनिया बदल गई तथा और भी तेजी से बदलती जा रही है। अंग्रेजी-साशाब्द ने हमारी सारी परंपरा को तोड़ दिया है। इन बंद-सी वर्षों में हम इतने बदल गए—सारी हुनिया ही इतनी बदल गई है कि पुराने जमाने का कोई पूर्वज हमें शायद ही पहचान सकेगा। हमारी शिष्टा-दीक्षा से लेकर विचार-चिंतन की भाषा भी विदेरी हो गई है। हमारे पुत्र हुए मनीषी अंग्रेजी भाषा में शिष्टा पाये हुए हैं, उसी में बोलते रहे हैं और उसी में लिखते रहे हैं। अंग्रेजी भाषा ने संस्कृत का सर्वाधिकार छीन लिया है। आज भारतीय विद्यार्थों की जैसी विवेचना और विचार अंग्रेजी भाषा में है उसकी आधी चर्चा का भी दावा कोई भारतीय भाषा नहीं कर सकती। यह हमारी सबसे बड़ा पराजय है। राजनीतिक सत्ता के दिन जाने से हम इतने मतमस्वक नहीं हैं जितने कि अपने विचार की, तर्क की, दर्शन की, अभ्यास की और सर्वस्व की भाषा के दिन जाने से। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हम अपनी ही विद्या की अपनी बोली में न कह सकने के उपहासास्पद अपराधी हैं। यह लज्जा हमारी जातीय लज्जा है। देश का स्वाभिमानो हृदय इस असह्य अवस्था को अधिक बर्दाश्त नहीं कर सकता।

अब हम संस्कृत को फिर से नहीं पा सकते। अगर बीच में ही अंग्रेजी ने आकर हमारी परंपरा को खुरी तरह तोड़ न भी दिया होता तो भी आज हम संस्कृत को छोड़ने को बाध्य होते, क्योंकि वह जन-साधारण की भाषा नहीं हो सकती। जिन दिनों एक विशेष श्रेणी के लोग ही ज्ञान-चर्चा का भार स्वीकार करते थे, उन दिनों भी यह कठिन और दुःसह थी। परन्तु आज वह जमाना नहीं रहा। हम बदल गए हैं, हमारी हुनिया पछट गई है, हमारे पुराने विरवास हिल गए हैं, हमारी ऐहिकता बढ़ गई है और हमारे ये दिन अब हमेशा के लिए चले गए। भवभूति के राम की भाँति हम भी अब यह कहने को

वा है कि 'वे हि नो दिवसा गताः'—अब वे हमारे दिन नहीं

अकसोप करना बेकार है। 'हम जहाँ था पड़े हैं वहाँ से हमें आग शुरू करनी है। काज्र-धर्म हमें पीड़े नहीं खौपने देगा। हमें अपने को और अपनी दुनिया को समझने में अपने हजातों बरों के हास का अनुभव प्राप्त है। हम इस दुनिया में नये नहीं हैं, अस्थिर नहीं हैं। अपने संस्कारों और अनुभवों के लिए हमें तब से हमें अपने को और अपनी दुनिया को समझने में सहायता लेंगे। हमें याद रखना चाहिए कि अनुभव और संस्कार तभी बनते हैं जब वे हमें आगे डेल सकें, कर्मशील बना सकें। निराले अनुभव उसे ला जाता है और संस्कार उसे और भी असाध्य देता है।

हमारा पुराना अनुभव बनाता है कि हम आमेनु-सिमाकन एक ही एक संस्कार, एक विचार, एक मनोवृत्ति तैयार कर सकते हैं। यह एक भाषा संस्कृत है। हमारी नई परिस्थिति बना रही है स्वयं की चर्चा से मुक्ति या परबोध बनाने याथा आदर्श' अब नहीं आता। "एकः सम्यग् शब्दः ज्ञानः"—अर्थात् 'एक भी शब्द' जो कि ज्ञान लिया जाय तो स्वयंकोक में अर्थ स्थान प्राप्त हो' का आदर्श हम काम में नहीं रिक मकता, जब कि अनेक हकबकी और बन्दी-ने-बन्दी की भाषना काम कर रही है। ऐसी भाषा चुन लेनी है जो हमारी हजातों बरों की परंपराओं के-कम विविधता हो और हमारी नूतन परिस्थिति का सामना अ-अधिक सुझैरी से कर सकनी हो, संस्कृत न होकर भी आनी हो और साथ ही जो अनेक नये विचार को, अनेक नई को अपना लेने में अदम्य दिव्यचित्तनी न हो-जो प्राचीन की असाध्यचित्तनी भी और नवीन चिन्ता की असाध्य

चूँकि वर्तमान युग में मनुष्यता की प्रधानता समान भाव से स्वीकार कर ली गई है, इसलिए उसी को दृष्टि में रखकर इस समस्या को भी हल किया जा सकता है। जिस प्रकार मनुष्य की सुविधा की दृष्टि से सहज-सरल देशी भाषाओं को प्रोत्साहित किया गया है। उसी प्रकार वृहत्तर देश के विराट मानव-समुदाय की दृष्टि में रखकर सामान्य भाषा की समस्या भी हल की जाती रही है। अविभांग मनुष्य जिस भाषा में बोल सकते हों; अविभांग मनुष्यों की नाड़ी के साथ जिस भाषा का अच्चेद सम्बन्ध हो, वह भाषा क्या है? आपसे कहने की आवश्यकता नहीं। आपने अपने ढंग से उसका उत्तर खोज लिया है।

मैं आपको संस्कृत की याद फिर दिलाता हूँ। हिन्दी या हिन्दुस्तानी हमारी अधिक जनों की समझ में आने वाली अधिक प्रचलित भाषा जरूर है पर संस्कृत ने हमारे सर्व देश की भाषा पर जो अपना अनुस्मात्कीय (न हटाया जा सकने वाला) प्रभाव डाला है, यह कम नहीं है। हम हजार संस्कृत की परंपरा से प्युत हो गए हों और उस भाषा तथा उसके विशाल साहित्य को भूल गए हों; पर यह हमसे दूर नहीं हो सकती। हमने चाहे कमली को छोड़ दिया हो, पर कमली हमें नहीं छोड़ सकती। संस्कृत ने हममें अब भी चौदह आना एकठा कायम कर रखी है। नये सिरे से हमें दो आना ही प्रयत्न करना है। वस्तुतः हिन्दी और अन्यान्य भारतीय भाषाओं में १४ आना ही साम्य है। दो आना ही हमें इसमें नये सिरे से गढ़ना है। यह आप कर रहे हैं।

मैं भाषा के संस्कृत बनाने की वकालत नहीं कर रहा हूँ मैं चाहता हूँ कि पिछले हजारों वर्षों के इतिहास ने हमें जो कुछ दिया है, उससे हम सबक सीखें। हमारा तालपर्यं यह नहीं है कि हम विदेशी शब्दों का बहिष्कार करें। मगर आपने इसका यह अर्थ समझा हो तो मैंने कहीं अपनी बात उपस्थित करने में गलती की होगी। मैं ऐसा कैसे

बद सकता हूँ जब कि हमारी श्रद्धेय संस्कृत भाषा ने ही विदेशी शब्दों को ग्रहण करने का रास्ता दिखाया है। हमारे संस्कृत-पाठिर में तीरा, श्लेषाण, अपोक्लिभ, पणफर, कौर्ष, जू, लेष, हेडि आदि अनेकों ग्रीक शब्दों का व्यवहार हुआ है। ये ग्रीक शब्दों के संस्कृत रूप हैं, परन्तु संस्कृत में इतने अधिक प्रचलित हो गए हैं कि कोई संस्कृत वा पंडित इनकी शुद्धता में तनिक भी संदेह नहीं करता। कम-से-कम एक कोषी (२०) ग्रीक शब्दों में आपको ऐसे शब्दों का व्यवहार धर्म-शास्त्रीय व्यवस्था देने वाले ग्रन्थों में होता है। ज्योतिष-शास्त्र (तारा-शास्त्र (वर्षकल, मासकल आदि बतलाने वाला ज्योतिष-शास्त्र का एक अंग) के योगों के नाम में बीसियों अक्षरी शब्दों का व्यवहार होगा। तारा-नीलकण्ठी (एक ज्योतिष-ग्रन्थ) से यदि मैं एक श्लोक पढ़ूँ तो आप शायद समझेंगे कि मैं कुरान की भाषण पढ़ रहा हूँ:—

‘श्वल्लासरं रहमयो दुफालिः कुद्वयं तदुदयोत्थ दिवीर नामा ।’

घोर

‘श्यादिककवालः इशाराक योगः’—इत्यादि

‘रमल’ नामक ज्योतिष विद्या) के ग्रन्थों में कोदियों (बीसों) अक्षरी घोर/घारमी के शब्दों का व्यवहार हुआ है। एक श्लोक में ‘तारीय’ शब्द का ऐसा व्यवहार किया गया है मानो वह पाणिनि का ही शब्द—‘तारीये च त्रितये प्रयोदशे’ मुसलमान शब्द का ‘शुरायल’ रूप संस्कृत के काव्य-ग्रन्थों में ही नहीं मुसलमान बादशाहों के गिरफ्तार का पाया जाता है। पुरातन प्रबन्ध-संग्रह में एक जगह सम्राट् को ‘तारीय’ बनाकर ही प्रयोग नहीं किया गया है, अनुवाक्य के अर्थ में शब्द “अरीनिर्मसीति” बहकर उसमें मुसलमानों की आर्त गरीबी, गरीबी, मैं वह नहीं बह रहा हूँ कि आप विदेशी शब्दों को निकालना बंद करें। मुझे गर्व है कि आपने आज त्रिग भाषा को अपने जिएँ आर्य-भाषा के रूप में बरत दिया है, उसने उर्दू के रूप में इतने

विदेशी शब्दों को हजम किया है कि वह संसार की समस्त विदेशी भाषाओं को पाचन-शक्ति की प्रतिद्विन्द्विता में पीछे छोड़ गई है। प्रचलित शब्दों का त्याग करना मूर्खता है; पर मैं साथ ही जोर देकर कहता हूँ कि किसी विदेशी भाषा के शब्दों के आ जाने-भर से वह विदेशी भाषा संस्कृत के साथ बराबरी का दावा नहीं कर सकती। वह हमारे नवीन भावों के प्रकाशन के लिए संस्कृत के शब्दों को गढ़ने से हमें नहीं रोक सकती। प्रचलित शब्दों को विदेशी कहकर त्याग देना मूर्खता है; पर किसी भाषा के शब्दों का प्रचलन देखकर अपनी हजारों वर्ष की इस परम्परा की उपेक्षा करना आत्म-घात है संस्कृत ने भिन्न भिन्न भाषाओं से हजारों शब्द लिये हैं, पर उन्हें संस्कृत बनाकर। हम अब भी विदेशी शब्दों को लें तो उन्हें भारतीय बनाकर इस देश के उच्चारण और वाक्य-रचना-परम्परा के अनुकूल बनाकर।

मगर यह तो मैं अचान्तर् बात कह गया। मैं मूल प्रश्न पर फिर आ रहा हूँ। इस युग का मुख्य उद्देश्य मनुष्य है। इस युग का सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि विज्ञान की सहायता से जहाँ बाह्य भौगोलिक बंधन सदातद टूट गए हैं वहाँ मानसिक संकीर्णता दूर नहीं हुई है। हम एक दूसरे को पहचानते नहीं। कीजिए। ऐसा कीजिए कि एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को समझ सके। एक धर्म वाले दूसरे धर्म वाले की कद्र कर सकें। एक प्रदेशवाले दूसरे प्रदेशवाले के अन्तर में प्रवेश कर सकें। ऐसा कीजिए कि इस सामान्य माध्यम के द्वारा आप सारे देश में एक भाषा, एक उमंग और एक उत्साह भर सकें। और फिर ऐसा कीजिए कि हम इस पावन भाषा के जरिये इस देश की, इस काल की और अन्य कालों की समूची ज्ञान-सम्पत्ति आपस में विधिमय कर सकें।



भाषा की एकता

(आचार्य हितिमोहन सेन)

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के हेतु अनेक अनुष्ठान हुए हैं और उनको में संस्कृति का राजसूय-यज्ञ समझता हूँ। राजसूय-यज्ञ में नाना प्रदेश से नाना भक्ति का उपहार आना आवश्यक होता है। इसके बिना राजसूय-यज्ञ नहीं हो सकता। परिष्कृत स्वरूप कर्नाटक, महाराष्ट्र, कोंकण, गुजरात, मल्लवार, उत्तर-भारत आदि नाना प्रदेशों के सुधीजन इसके लिए त्याग व परिश्रम कर रहे हैं। परन्तु इस त्याग को अपनी का पात्र कहाँ है ? इस सांस्कृतिक त्याग का पात्र है भाषा। सब ही उसी वाङ्मय-पात्र की रचना में दत्त-चित्त हैं। बिना इस वाङ्मय-पात्र के राजसूय सफल नहीं होगा। आदर्श और साधना की एकता मनुष्य को एकता जरूर देती है; परन्तु भाषा की भिन्नता मनुष्य को इस एकता को प्राप्त नहीं होने देती। यूरोपीय प्राचीन कथा में सुना जाता है कि भाषा की भिन्नता के कारण ही 'टावर ऑफ बैबल' टूट पड़ा था, और वही मनुष्य, जो इस महती साधना के लिए दिन-रात एक कर रहे थे, भाषा की भिन्नता के कारण आपस में ही लड़ने लगे थे और उन्होंने अपनी ही निर्माण की हुई वस्तु को स्वयं ही गिरा दिया था।

किन्तु भाषा यद्यपि एकता का प्रधान साधन है, परन्तु वही एक

मात्र ऐश्वर्य-विधायक उपादान नहीं है। और भी वस्तुएँ हैं जो एकता को बनाये रखने में या नष्ट कर देने में महत्वपूर्ण भाग लेती हैं। इतिहास में एक भाषा-भाषी लोगों का झगड़ना दुर्लभ घटना नहीं है। अमेरिका और इंग्लैंड में जो लड़ाई हुई थी वह भी एक ही भाषा के होते हुए भी। महाभारत की लड़ाई क्या भिन्न भाषा-भाषियों में हुई थी ? हमें भाषा की साधना करते समय इन अन्य महत्वपूर्ण वस्तुओं को भूल नहीं जाना चाहिए। आज अगर आप सुजी नज़रों से देखें तो आपको इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जायगा कि एक भाषा की अबाध उठाते हुए भी हममें प्रादेशिकता और साम्प्रदायिकता प्रवेश कर रही है और दिन-दूनी रात-बौलुनी बढ़ भी रही है। क्योंकि भाषा ही एक-मात्र एकता का हेतु नहीं है, और भी बहुत-सी बातें हैं। उनकी उपेक्षा करने से हम 'एक भाषा' की प्रतिष्ठा करने में भी पद-पद पर बाधा अनुभव करेंगे। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा एक प्रधान और महत्वपूर्ण सेतु है। भाषा की सहायता के बिना हम अपने अत्यन्त निकटस्थ व्यक्ति को भी नहीं बुझा सकते।

सम्यताओं के इतिहास के अध्येताओं ने लक्ष्य किया है कि प्रायः प्रत्येक प्राचीन सम्यता एक-एक नदी को आश्रय करके विकसित हुई हैं। डीक भी है। नदी अपने प्रवाह से नाना प्रदेशों को युक्त करती है किन्तु भाषा और भी अवर्द्धत योग-विधायक है। नदी तो केवल बाध सम्यता के विकास में सहायता पहुँचाती है, परन्तु भाषा तो जीवन्त प्रवाह है जो अन्तर-अन्तर में योग-स्थापन करती है। यहाँ भाषा से मेरा उद्देश्य यह नहीं है कि जिस किसी ज़माने की भाषा या जिस किसी देश की भाषा योग-स्थापन का कार्य करती है, नहीं; योग-विधायिनी भाषा बही हो सकती है जो सर्वसाधारण की अपनी हो, अपने काँड़ को और अपने देश की। कबीरदास ने भाषा अर्थात् बोली जाने वाली भाषा की इसीलिए 'बहते बीर' से उपमा दी है और संस्कृत की 'रूप जल' से—

‘संस्कृत कूप जज्ञ कयीरा, भाषा बहता नीर’

चात्र हम केवल राजनीतिक दासता के बन्धन से ही जकड़े-सी बात नहीं है। इससे भी भयंकर बन्धन हमारे अपने तैयार हैं जो भीतर के भी हैं, बाहर के भी। हमें उन सबसे मुक्त होना अपनी हम मुक्ति के लिए हमें उपयुक्त तीर्थ-स्थान खोज निकालना होगा। जहाँ दो नदियों का समागम होता है वह संगम-क्षेत्र हमारे में बहुत पवित्र माना जाता है; जहाँ चौर भी अधिक नदियों का संगम हो वह तीर्थ चौर भी धेर होता है। तीन नदियों के संगम से प्रकृत का माहात्म्य इतना अधिक है कि वह तीर्थराज कहलाता है। कारीखोटे-छोटे नालों के संगम का भी जहाँ अधिक समावेश हुआ है, वही पवित्र पंखगंगा घाट को श्रेष्ठ-गुणवत्ता माना गया है। अपनी मुक्ति के लिए भी हमें साधनाओं और संगम का लक्ष्य ही निकालना होगा। भाषा को केवल भाषा मानकर हम गुप्त नहीं रह सकते। हमें उन संस्कृतियों, विद्याओं और कलाओं का महान् संगम-तीर्थ बना देना होगा। अंग्रेजी भाषा की महिमा हमारे लिए नहीं है कि वह हमारे साहित्यों की भाषा थी, बल्कि हमारे लिए कि उसने संसार की समस्त विद्याओं को प्राप्तमान् किया है। अंग्रेज बने गए हैं फिर भी अंग्रेजी का चार देवा ही बना रहेगा। हिन्दी को भी वही होना है। उसे भी नाला संस्कृतियों, विद्याओं और कलाओं की त्रिवेणी बनना होगा। बिना देवा बने भाषा की साधना अधूरी रह जायगी। चात्र लोग जो चात्र हम साधना के लिए मनी हुए हैं, वह बाल व मूर्खें। भाषा हमारे लिए साधन है, साधन नहीं, मार्ग है, गन्तव्य नहीं, आशय है, आशय नहीं।

पुनरावृत्ति को बौद्धना सहज नहीं है। कभी-कभी वह भाषा बंधन-बन्धन कायल करके हमारे बीच बनी रहती है। और कभी हम इतना-गुल्बाना करते हैं कि भाषा की पुनरावृत्ति दूर करने का अनिश्चय करते हैं, फिर

भी वह हमारे पीछे लगी ही रहती है। कभी-कभी हम देव की पूजा न करके देहर (मूर्ति के घर) की पूजा करने लगते हैं। आवेब को भूलकर आचार की पूजा कुछ ऐसी ही है। जितना बड़ा भी प्रेमी हो, वह यदि शत्रु एक जिफाफा भेजे, चिट्ठी नहीं, तो प्रेमिका का चैयें कब तक टिका रह सकता है ? और फिर यदि वह जिफाफा बैरिंग हो तब तो कहना हो क्या है ? कब तक कोई सिर्फ इस बात से सम्बोध कर सकता है कि जिफाफा परारे के हाथ का भेजा हुआ है ! कुछ पत्र भी तो हो कुछ समाचार, कुछ प्रेम-सम्भाषण, कुछ बड़े जानकारी। भाषा महज एक जिफाफा है। तो भी बैरिंग, क्योंकि इसे पाने के लिए परिश्रम सर्ष करना पड़ता है। उसमें का पत्र और उसमें लिखा हुआ साहित्य, विज्ञान सम्बन्धी सत्य है। हमें जिफाफे का ध्यान भी जरूर रखना चाहिए, क्योंकि बड़ी प्रेम-पत्र को सुरक्षित रूप से पहुँचाया है पर पत्र की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि हम हिन्दी-भाषा को माना शास्त्रों और विद्याओं से भर दें।

एक तरह के लोग जो उन्हीं बातों में सरस का सरस अनुभव करते हैं, जो मुरार-काज में कही गई थीं—इन्हें सनातनी कहते हैं। एक और तरह के लोग हैं जो पूर देश में कही गई बातों को ही सामाजिक मानते हैं—इन्हें क्या कहने हैं, मानूम नहीं। पर ये दोनों हैं—एक ही जालि के। एक काज-गत सनातनी हैं, दूसरे देश-गत। परन्तु सत्य बस्तुतः सब काज का है और सब देश का। हमें प्रिय जो जिस भद्रा का पात्र है, वह स्वदेशी हो या विदेशी, आज का हो या प्राचीन काज का, हमें उसे बह भद्रा देनी ही चाहिए। हमारे हम अनुदान में हमें प्राचीन और नवीन, इस देश की और अन्य देश की समस्त विद्याओं को निःसंकोच स्वीकार करना होगा। तभी हम उसे महारू बना सकते हैं। यदि वहाँ हमने किसी प्रकार की स्थान-गत या काज-गत संकीर्णता को मन में धारें दिया तो यद्यपि हम कुछ लोगों से बाह्यारी पा सकते हैं, परन्तु वह सांस्कृतिक काज-बात ही भिन्न होगा। देना देना गया है

कि रूसी के माना भौति के आत्म-भागों में बाह्यवादी भी मिश्रणी है परन्तु अन्ततोगत्या आत्म-भाग—आत्म-भाग ही है।

आपको शायद आश्चर्य हो रहा होगा मैं ऐसी ऐसी अशुभ बात क्यों कह रहा हूँ। कह तो रहा हूँ, परन्तु मानसिक दुःख में। हम मुँह में जितना भी 'स्वाधीनता' आदि नाम क्यों न लें, मोतर में हमारे अन्दर आदिम युग की तानाशाही—पूजा ज्यो-ही-थ्यों बनी हुई है। इसीलिए हम किसी विरोध काज या विरोध देश को अपना डिक्टेटर मान लेते हैं और उसकी पूजा करने लगते हैं। जब हम युग में मैं मनु की व्यवस्थाओं को शासन करते देखता हूँ, या हम देश में यूरोप के आदर्शों की पूजा होते देखता हूँ, तो बरबस मुझे यह बात याद आ जाती है। इसीलिए कहता हूँ कि हिन्दी-भाग में जिन साहित्य का हम निर्माण करें उसमें हम विरोध पूजा के अन्वयानो न हो जायें। आप मुझे गूढत न समझें। मैं न शो मनु का ही कम आदर करता हूँ, और न योरोपीय आदर्शों का ही। मेरा विरोध किसी बात को एक-मात्र प्रमाण मान लेने से है।

बहुत-से लोगों की भौति मैं यह नहीं मानता कि समस्त काज और समस्त देश के साथ हम समान भाव से साम्य की रक्षा नहीं कर सकते। एक मामूली घणितित बालिका भी एक ही साथ अपने पिता के प्रति आदर भाव रख सकती है और साथ ही अपने पति के प्रति भी। पिता के प्रति आदर और प्रेम होना किसी प्रकार उसके पति-प्रेम में बाधक नहीं होता और न ये दोनों बातें उसके भावी पुत्र-प्रेम में विघ्न-रूप हो उठती हैं। एक सामान्य बालिका भी आत्मानो से अछात, वर्तमान और भविष्य के प्रति अपना कर्तव्य निवाह से आती है। वनस्पति के बीज को देखिए। कितनी पीढ़ियों की परम्परा लेकर वह आया है और भविष्य में भी न जाने कितनी परम्पराओं को वह उत्पन्न करेगा। यह गूढत बात है कि हम सर्व देश और सर्व काज के प्रति अरना कर्तव्य पाछन नहीं कर सकते।

यह मानव-मानव के प्रति जो योग है वह इतनी बड़ी चीज़ है कि मनुष्य ने अपनी इस सर्वोत्तम साधना का नाम ही दिया है—साहित्य (सहित का भाव)। यह साहित्य की मुख्य वस्तु है। भाषा तो उसका आधार-पात्र भर ही है। इसी भाषा और साहित्य के बल पर मनुष्य ज्ञान, कर्म और संस्कृति में पशु को बहुत पीछे छोड़ गया है। क्योंकि इसी के द्वारा उसका योग समस्त काल और समस्त देश से स्थापित हो सका है। भाषा और साहित्य को स्वीकार न करना उस महान् योग को ही अस्वीकार करना है। इतना बड़ा आत्म-घातो विद्रोह और कुछ नहीं है।

हमारे वृद्धतर जीवन में योग-साधन का कार्य करती है भाषा, उसी प्रकार जिस तरह गृह-परिवार के जीवन माता में योग-स्थापन करती है। क्योंकि बच्चों में आपसी झगड़े-टंटे कितने भी बरों न हों, वे स्नेहमयी माँ की गोद में बैठकर सभी द्वन्द्व और झगड़े भूल जाते हैं। जिस प्रकार सच्ची माता सन्तानों के भेद-विभेद बिना दूर किये नहीं रह सकती, उसी प्रकार सच्ची भाषा और सच्चा साहित्य भी अपनी सन्तान का भेद-विभेद दूर किये बिना नहीं रह सकता। भाषा और साहित्य का स्थान भी माता का-सा ही है।

आप कहेंगे कि माता भी कभी मिथ्या होती है ? माँ तो सदा सच्ची ही होती है। हमारे देश में जिस भाषा को माता कहा गया है, उस, मातृ-भाषा की गोद में ही तो हम सबने जन्म लिया है। उसी माता ने हमारे चिन्मय स्वरूप की सृष्टि की है। वह माता मिथ्या कैसे हो सकती है ? वस्तुतः जब वह माता हमारे चिन्मय स्वरूप की सृष्टि करती रहती है तब सच्ची हो होती है; किन्तु जब हम उस माता को सृष्टि करने का ध्यान करने छोड़ते हैं तो वह निरक्षय हो मिथ्या हो उठती है। माता को सन्तान मानाविष्य अहंकारों और महनीय वस्तुओं से अहंकृत करें—यह तो उचित है; बल्कि सन्तान का यह कर्तव्य ही है कि माता को अधिकधिक सष्ट और पृथ करे।

रहे पर हाथ बढ़ माता को ही बनाने लगे, यह तो एकदम समझ में आने वाली बात नहीं है। हम मायाकारी भाषा को घनेड़ भागों में—कला-साहित्य-विज्ञान-में—मगूद और घर्नित कर सकते हैं व उगे काठ-दोड़, गद-बोत्र कर नई माता बनाने का प्रयत्न करना निगल्य हम-मात्र है।

हिन्दु हमने माता को मिथ्या बनाना शुरू कर दिया है। प्रमल्य यह है कि हम मुँह में तो एक ही भाषा की बात कहते जा रहे हैं; परन्तु वस्तुतः हमारे भीतर के भावा प्रचार के भेद-भिेद, साम्प्रदाय-विच्छा, प्रादेशिकता आदि बढ़ने ही जा रहे हैं। क्या हमें धूमकर देखने की जरूरत नहीं है कि हमने माता को काठ-दोड़ कर गलत और निर्भीय मूर्ति बनाने की कोशिश तो नहीं शुरू की है? घर-व्याना को दिये हुए पारल की धोवन को पादे जितना ही दूध कदकर विज्ञापित किया गया हो, उससे उनका बल-वीर्य नहीं बढ़ सका, ठीक उसी प्रकार गलत वस्तु की जितने जोर में भी सही कदकर ज्यों न विज्ञापित किया जाय, उससे हमारी शक्ति में कोई वृद्धि नहीं होगी। सच्ची माता की मूर्ति तो नहीं की जा सकती पर उने ध्वंम किया जा सकता है। कभी हमने इतिहास-पुराण में यह नहीं गुना कि किन्ती ने माता की मूर्ति की थी, परन्तु परशुराम की मातृ-हत्या प्रसिद्ध क्या है। हम भूल न आर्य कि मातृ-हत्या के अपराध में परशुराम को कितना बड़ा दण्ड पात्रीवन भोगना पड़ा या। एक बार जो कुठार उनके हाथ में लम गया सो जमा ही रह गया, उसे कोई भी हटा न सका। पिता की आज्ञा की दुहाई देने पर भी उनकी इस दण्ड से—इस वेदम्बना से—मुक्ति नहीं हुई। कुठार वस्तुतः नारा का प्रतीक है। यदि हमने आज विनारा से ही आरम्भ किया तो निरिचत मानिए, यह वस्त्र हमारे हाथ से छूटेगा नहीं; हम कभी भी रचनात्मक कार्य नहीं कर सकेंगे। माता को यदि हम जीवित समझें तो क्या कभी नौ इसके अंगच्छेद की बात हम सोच सकते हैं? एक-पुत्री भवानी ने

जब दण्ड-यज्ञ में प्रति का अपमान देखकर यज्ञानल में प्राण दे दिये थे तब भारद्वाज ने उनके शव को चक्र से २१ टुकड़ों में विभक्त कर दिया। ये ही २१ खण्ड इक्यावन स्थानों में गिरे थे और इसभिष्ट तांत्रिकों के २१ पीठ हैं। तांत्रिक योगियों का कहना है कि जो इन इक्यावन पीठों की साधना एकत्र कर सकता है, उसी की कुल-कुण्ड-जिनी-शक्ति जागृत होती है।

जोड़-जाड़कर नारी की सृष्टि की कथा हमारे पुराणों में एकदम नहीं हो, सो बात नहीं है। परन्तु इस प्रकार जोड़ी हुई प्रतिमा में मानव की कल्पना ही नहीं की गई। स्वर्ग की अप्सरा तिलोत्तमा ऐसी ही नारी है। उसका काम था सबका चित्त हरण करना, मानव नहीं। परन्तु पुराण साची है कि यह वस्तुतः किसी का भी चित्त हरण नहीं कर सकी; बल्कि एक त्रिनाशक शक्ति के रूप में ही प्रसिद्ध हो गई। भाषा को जोड़-जाड़कर गढ़ने के पंचपाठी लोग इस कथा को बाद रखें तो अच्छा हो। मैं आशा करूँ कि पाठक माता के इस योगेश्वरी स्वरूप के ही आराधक हों। मैं चाहता हूँ कि समस्त भारत भाषा के इसी योगेश्वरी स्वरूप की साधना का क्षेत्र हो।



भाषा के क्षेत्र में भी पाकिस्तान

(श्री कमलापति त्रिपाठी)

मैं समझता हूँ कि भारत की राष्ट्र-भाषा तो वह भाषा बनेगी, जो राष्ट्र के सहस्राब्दियों के संस्कार, उसके इतिहास की प्रगति, उसकी परम्परा, उसकी दृष्टि, उसकी प्रतिभा और उसकी अहमा की मूलाधार बन कर आविर्भूत होगी। आज कोई राजनीतिक नेता अपनी कोई राज-नीतिक समस्या राष्ट्र-भाषा का निर्माण नहीं कर सकती। मैं समझता हूँ कि राष्ट्र-भाषा का प्रश्न उठाकर स्वयं अलग उठाना दिया जा रहा है और भाषा के क्षेत्र में भी पाकिस्तान बनाने का प्रयास हो रहा है। मैं देखता हूँ कि समस्या सुलझाने की अपनी विगतही ही बची जा रही है। मेरा तो यह निवेदन है कि राष्ट्र-भाषा का प्रश्न आज खो दिया जाए। मैं यह दावा नहीं करना चाहता हूँ कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा बना दी जाए। मैं केवल यह कहता हूँ कि सांस्कृतिक और राष्ट्रीय जीवन में भाषा की अनेक भाषा को अपनी प्रतिभा और उपयोगिता सिद्ध करने का प्रयास होना चाहिए और देखिए कि राष्ट्रीयता तथा नवभारत की स्थापना को करने में कौन समर्थ होती है ? यद्यपि मेरा यह निराश्रय है कि राष्ट्र शक्ति आज एक-मात्र हिन्दी में है, और यदि उसका अभावोत्पन्न किया जाए और स्वयं के अगड़े न उठाने दिये जाएं, तो राष्ट्रीय पर राष्ट्र-भाषा के रूप में इसी की प्रतिष्ठा निश्चित है, यद्यपि मैं यह दावा नहीं करना कि आज कोई प्रस्ताव...

उसे राष्ट्र-भाषा घोषित किया जाय। बाहरी अथवा शान्ती सहायता तो उन्हें चाहिए, जिनमें स्वयं बल न हो।

हम समझते हैं कि हिन्दुस्तानी का नाम भी वे ही लेते हैं, जो अपने पैर के नीचे की धरती खिसकती पाते हैं, हिन्दी के वेग से भयभीत होते हैं। फलतः मैं यही आग्रह करता हूँ कि राष्ट्र-भाषा के नाम पर हिन्दुस्तानी अथवा किसी भी भाषा का नाम न लीजिए। हिन्दी को तथा अन्य समस्त भाषाओं को फलने-फूलने दीजिए, अपने पथ पर बढ़ने दीजिए और छोड़ दीजिए उन्हें कि वे जब अपने बल पर अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करें। समय आया, राष्ट्र स्वतः उस भाषा का प्रयोग करता दिखाई देगा, जिसमें उसकी आत्मा व्यक्त होती रहेगी और वही राष्ट्र-भाषा का पद ग्रहण करेगी।

मैं तो अब तक यह समझ ही न पाया कि हिन्दुस्तानी कौन-सी भाषा है और उसका स्वरूप क्या है। हिन्दी मैं समझ पाता हूँ; उर्दू भी मेरी समझ में आती है। हिन्दी अपना विकास करे और उर्दू अपना रूप संवारे। दोनों अपने पथ पर बढ़ी चले और फले-फूलें। मुझे न उसके पारस्परिक मनो-माझिन्ध की आवश्यकता प्रतीत होती है, न विरोध की। कोई भी साहित्य-प्रेमी उर्दू का विरोध नहीं कर सकता।... पर, यह 'हिन्दुस्तानी' कहां से आई और क्या है, यह समझना मेरे लिए कठिन हो गया है। मैं उन लोगों में हूँ, जो यह समझते हैं कि भाषा का स्वरूप बिगाड़ना स्वयं अपने को विद्रूप करना है। भाषा के साथ व्यवहार जीवन को नष्ट कर देने के समान लगता है। हिन्दुस्तानी का अर्थ यदि यह है कि उर्दू भी नष्ट हो जाय और हिन्दी भी चौपट हो जाय, तो मुझे ऐसी भाषा नहीं चाहिए। मैं समझता हूँ कि कोई भी— चाहे वह हिन्दी-प्रेमी हो, चाहे उर्दू-प्रेमी—यह स्वीकार न करेगा कि उनका स्थान किसी ऐसी आरज भाषा को दिया जाय, जो दोनों का ही सम्मूलन करके स्वयं प्रतिष्ठित हो जाय।

हमारी राष्ट्र-भाषा का स्वरूप

(डाक्टर उदयनारायण तिवारी)

राष्ट्र-भाषा का प्रश्न विद्युत् तीव्र-वाञ्छीय वषों में हमारे सामने
 रहा है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति की लड़ाई के दिनों में भी उगड़ी छोट से हम
 चिन्तित थे; पर हमारा मुख्य ध्यान राजनीतिक स्वतन्त्रता की छोर या
 छोर बढ़ गीय बना था, क्योंकि मध प्रश्नों के मूख में राजनीतिक पर-
 मन्त्रणा की भावना हमारे मन में थी। आज हम स्वतन्त्र हो गए हैं
 और एक ऐसे स्वतन्त्र देश के त्रिण, जिसे हम गौरवमय अनीय महान्
 एवं उगावख मन्विल्य के साथ मिलकर पुँषने वर्तमान की ममेरने का
 रहा है, एक अपनी राष्ट्र-भाषा का होना बहुत आरपक है। अब जब
 तो राष्ट्र-भाषा का निर्णय तुल्य हो जाना चाहिए। विद्युत् तीव्र
 में दिन्नी एवं मागी की जो उम्मानि हुई है, वही उगड़ी राष्ट्र-भा-
 एवं राष्ट्र-लिपि होने की योग्यता का प्रमाण है। आज बने जो स्वता
 कोकत्रियता दल हुई है वह दिन्नी भाषन-गना का अरिक्ता से नई
 प्रानुव उमह अनुपम दुर्गों में जो आरव्य अपनी छोर राष्ट्र के हृदय की
 लीक छेने है। अब तो यह निर्दिष्टार गिर हो गया है कि जन-संख्या
 के हरि से तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की हरि से कोई भी भाषा दिन्नी
 सामने राष्ट्र-भाषा बन का दगा नहीं कर सकती।

उसका कोई स्वरूप ही निश्चित नहीं हो सका है। यह कहीं एक रूप में है, वो कहीं दूसरे रूप में। सच तो यह है कि भाषा के सम्बन्ध में पर नाम बहुत ही भ्रामक और अनुपयुक्त है। सर्व-साधारण जनता रेटियो में इसका स्वरूप उर्दू से ग्रहण करती है। अरबी-फारसी से खड़ी उर्दू को राजनीतिक घाब से हिन्दुस्तानी कहकर अब तक अखिल-भारतीय रेटियो ने हिन्दुस्तानी का जो स्वरूप सामने रखा है, उसे देखते हुए हमके विषय कुछ दूसरा नहीं कहा जा सकता। हिन्दी और उर्दू दो शुद्ध भाषा-संज्ञियों के लिए भी इसका प्रयोग हमारे सामने है। युक्त-प्रदेशीय सरकार द्वारा संस्थापित प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' नाम की संस्था ही इसका प्रमाण है। वहाँ पर हिन्दी और उर्दू दोनों के शुद्ध-शुद्ध अस्तित्व को स्वीकार करते हुए दोनों के सम्मिश्रित नाम के रूप में इसका व्यवहार आज भी हो रहा है। मद्दरमा जी के कथना-नुसार हिन्दी और उर्दू के 'शामफहम' शब्दों से बनी हुई खिचड़ी भाषा, जिसमें अभी तक कोई साहित्य नहीं बन सका है, हिन्दुस्तानी है। वस्तु-स्थिति यह है कि अभी तक ऐसी कोई भाषा उत्पन्न नहीं हो सकी है जिसको निर्भ्रान्त रूप से सर्वत्र हिन्दुस्तानी कहा जाय। राष्ट्र-भाषा के सम्मानित पद पर ऐसी भ्रान्त-स्वरूप तथा निराकार भाषा को प्रतिष्ठापित करना वस्तुतः राष्ट्र की उन्नति में बाधा उपस्थित करना है। किसी भी दृष्टि से, क्या साहित्य क्या स्वरूप, हिन्दुस्तानी इस पद पर नहीं बैठाई जा सकती। यदि बैठाई गई तो सचमुच 'दीन इजाही' की भाँति वह भी इतिहास के पन्नों पर रहेगी। एक स्वतन्त्र देश को जनता को अपनी राष्ट्र-भाषा एवं राष्ट्र-लिपि की परख है। वह अपने-व्याप उसका धरण कर लेगी। इतिहास साक्षी है कि राज्याश्रय द्वारा परि-पोषित ऐसी सारी भावनाएँ, जो राष्ट्र के हृदय में स्थान नहीं बना सकतीं, कभी अधिक दिनों तक उदर नहीं सकतीं।

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार करने के विरोध में आज सबसे बड़ा 'ध्यान समलसनों का रखा जाता है। पर हम यह भूल जाते हैं कि यह

घोटा-मा सुन्दर नाम टन्ही के पूर्वजों का दिया हुआ है। मान उगज्ज स्वरूप एवं गीतवय मन्दि में उनके पूर्वज कबीर, रहींम, राममान आदि का दिनना हाय रहा है, ह्ये क आवश्यकता नहीं है।

यदि हिन्दी के स्वरूप से हिन्दी को जिद है तो यह जा चादिष्ट कि राष्ट्र-भाषा हो जाने से हिन्दी के वर्तमान स्वरूप में शक परिवर्तन होंगे। मेरा ऐसा विचार है कि राष्ट्र-भाषा ऐसी चादिष्ट, जिये सर्वसाधारण जनता समझ सके। आज ऐसा हो मो है। मरल हिन्दी में जो भाषण दिये जाते हैं उन्हें उचरी भारत भिन्न-भिन्न प्रामीण बोलियों को बोलने वाली निरधर जनता भी समझती है। हिन्दु बंगला, अरामी, उड़िया, मराठी, गुजराती, मज्जाबम, कन्नड़, तामिल, तेलगू आदि भाषाओं अथवा वहाँ की बोलियों को समझने वाली जनता के सामने संस्कृत-गमित हिन्दी बोलने से ही काम चलेगा। हमका कारण यह है कि भाषार्थ दो प्रकार की होते हैं एक Borrowing अर्थात् उधार लेने वाली तथा दूसरी Building अर्थात् अपने प्रत्ययों आदि से ही शब्दों का निर्माण करने वाली। पहला दूसरी प्रकार की भाषार्थ है। अंग्रेजों की ही भाँति बंगला तथा उड़िया आदि की भी प्रकृति है, जिसमें लगभग २० प्रतिशत शब्द संस्कृत से उधार लिये जाते हैं। हिन्दु हिन्दी अपने प्रत्ययों से स्वयं शब्दों का निर्माण करती है। इसी कारण से उचरी भारत में सर्वत्र सरल हिन्दी तथा अन्य स्थानों में संस्कृत-गमित हिन्दी की आवश्यकता है।

कुछ लोगों का ध्यान है कि प्रामीण बोलियों में संस्कृत शब्दों का अभाव है। यह भ्रमक है। इसके विपरीत कुछ लोग यह समझते हैं प्रामीण बोलियों में धरबो-कातसी शब्दों की भरमार है, लेकिन वहाँ देश में सुसज्जमानी शासन होने के कारण यह समझना कुछ मुश्किल

युक्त हो सकता है, पर स्थिति इसके ठीक विपरीत है। श्री ज्ञानेश मोहन दास के बंगला अभिमान में लगभग एक लाख शब्द हैं, जिनमें केवल ढाई हजार शब्द अरबी-फारसी के हैं। इससे अधिक अरबी-फारसी के शब्द बंगला में उधार लिये हुए नहीं हैं। उदिया तथा असमिया की भी वही दशा है। उत्तरी भारत की ग्रामीण बोलियों को कहीं भी तीन प्रतिशत से अधिक अरबी-फारसी के शब्द नहीं हैं। उत्तरी भारत में सर्वत्र समान रूप से प्रचलित एवं लोकप्रिय अरबी-फारसी शब्दों में, जिसे हिन्दू मुसलमान सब गाते और सुनते हैं, एक प्रतिशत से अधिक अरबी-फारसी के शब्द नहीं हैं।

ऐसी स्थिति में संस्कृत-गर्भित हिन्दी को छोड़कर अरबी-फारसी लब्धी या कृत्रिम लिखित हिन्दुस्तानी कभी राष्ट्र-भाषा के पद पर नहीं प्रतिष्ठित की जा सकती। अब रही लिपि की बात। किसी भी भाषा के साथ उसकी लिपि की एकता का प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण है। अपनी राष्ट्र-भाषा के लिए विदेशी लिपि का अपनाना अपनी ही भाषा का घोटक है। राष्ट्र की चेतना के विकास में यह प्रवृत्ति बाधक बनती होगी। रोमन लिपि की कठिनाइयों संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्दों के लिए और भी बढ़ जायेंगी। फारसी-जैसी दुर्गम लिपि को, जिसे स्वयं मुसलमानों ने अपने यहाँ से अलग कर दिया है, राष्ट्र-लिपि का पद नहीं दिया जा सकता। नागरी ही इसके सर्वथा अनुकूल है। संसार के सुप्रसिद्ध भाषा-तत्त्वविदों ने भी नागरी की महत्ता स्वीकार की है। भारत ही की नहीं, सिद्ध, वर्मा तथा स्वाम की लिपियाँ भी नागरी लिपि पर आधारित हैं। सारे राष्ट्र को एक सूत्र में आबद्ध कराने की शक्ति अकेली उसी लिपि में है, क्योंकि सारे देश की लिपियाँ अर्थात् अक्षरों की संख्या इसी से पैदा हुई हैं। टाइपराइटर और प्रेस की कठिनाइयों को ध्यान में रखकर देवनागरी लिपि में कुछ परिवर्तनों के करने पर ये सारे गुण आ जायेंगे जो रोमन लिपि में उसके प्रयत्नों को प्राप्त दिखाने पड़ते हैं।

इस प्रकार देशभाषी में किसी हुई संस्कृत-नामित हिन्दी ही हमारे सामूचे स्वतन्त्र राष्ट्र की राष्ट्र-भाषा होने की उम्मीद रखनी है। वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण इसी में ही करना है, ध्वनी वृत्त भाषा में नहीं। अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों को अंगीकार करने की प्रवृत्ति हमारी मानसिक गुणधर्मों का लक्षण है। स्वतन्त्र राष्ट्र की उन्नति एवं विकास में हमने बड़ी बाधा पड़ेगी। ऐसा ही-भाषा का प्रयोग सर्वगुण-सम्पन्न अपनी भाषा को शब्दावली-बोधकर हम अंग्रेजी की शरण में। अंग्रेजों के साथ हमें उम्मीदों को विदर्य देनी है। ध्यान अर्थात् हम शिक्षा का माध्यम हिन्दी द्वारा आने जा रहे हैं और अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को पदावली करने जा रहे हैं तो ऐसी स्थिति में अंग्रेजी की पारिभाषिक शब्दावली का क्या प्रयोजन है, जब कि हमारे संस्कृत-निष्ठ हिन्दी का व्यापक शब्द-भण्डार संसार के समस्त विषयों की धपने में समाविष्ट करने में सक्षम है।

कुछ लोग प्रान्तीय बोलियों धपवा भाषाओं के विकास में हिन्दी की बाधक समझ कर उसका विरोध करना चाहते हैं, उनसे हमारा अनुरोध निवेदन है कि इन प्रान्तीय बोलियों धपवा भाषाओं के साथ हिन्दी का व्यवहार छोटी बहन जैसा है। बड़ी बहन कभी धपनी छोटी न की धपदस्थ करना नहीं चाहेगी। इसका संघर्ष केवल अंग्रेजी के ही है। यह उसी पद पर आसीन होगी तब पर अब तक अंग्रेजी धपनी-धपनी सोमाओं में प्रान्तीय बोलियों और भाषाओं का स्थान तब भी बना रहेगा जो अतीत में था। हिन्दी उनकी समृद्धि-वृद्धि में साधक बनेगी, बाधक नहीं। उनसे वह आदान-प्रदान संघर्ष नहीं। सम्मेलन सदा से सरल हिन्दी के पक्ष में रहा है। ती भी भाषा के शब्द-का हिन्दी में आने से बहिष्कार नहीं। यह तो सम्मेलन के विरुद्ध हिन्दी-विरोधियों का प्रचार है।



राष्ट्र-भाषा की उलझन'

(श्री चन्द्रवली पारडे)

स्वतन्त्रता की प्राप्ति और पाकिस्तान के निर्माण से हमारे देश की जो स्थिति बदल गई है, उसके साथ-साथ बदलने की चमत्ता हममें नहीं है। यही कारण है, कि आज हम राष्ट्र-भाषा की उलझन में पड़ गए हैं, और भाषा की सुथी सुलझाने में ल'था असमर्थ हो रहे हैं। यदि पाकिस्तान के प्रभाव को भाषा के क्षेत्र में देपना हो तो अपने संघ में घाप देख सकते हैं। उसके कारण आप के राष्ट्र में राष्ट्र-भाषा हिन्दी का बल बढ़ गया; किन्तु साथ ही अनुपात में हिन्द-संघ की भाषाओं में द्रविड भाषा को अधिक महत्त्व मिला गया। द्रविड-भाषा अनुपात में आर्य-भाषा से कुछ आगे गई, और इस दृष्टि से उसको कुछ अधिक कहने का अवसर मिला गया।

इधर एक और घटना ऐसी घटी, जिससे उसको कुछ और भी बल मिला गया। कौन नहीं जानता कि हैदराबाद-राज्य को राज-भाषा उर्दू के रूप में हिन्दी थी, जिसको हिन्दी बनाने का उद्योग आज हो रहा है; किन्तु साथ एक दूसरी बात भी काम कर रही है। पड़ोसी भाषा के लोग अपनी भाषा के लोगों को अपने साथ देखना चाहते हैं, और भाषा के आधार पर ही अपना प्रान्त खड़ा करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में नहीं कहा जा सकता कि उनकी भावना इस राज-भाषा के प्रति क्या

हों, इतना अवरय है कि यदि भाषा के प्रति उनकी वही भावना है, जो मुसलमान के प्रति जिन्ना की थी, तो अलग द्विदिवान के बन जाने में कोई बाधा नहीं। द्विद्व और आन्ध्र, कन्नड़ और मलयालम की गौड़ी किस प्रकार बैठेगी, कौन-सी भाषा उनकी राष्ट्र-भाषा होगी, या दे प्ररनों का समाधान हो जाना राष्ट्र के हित में अच्छा होगा। यदि यात्र हमारे मन में 'आर्यावर्त' और 'द्विद्वारवर्त' का इन्द्र चल रहा है तो उसे और बढ़ाना ठीक नहीं। यदि हम अपने ज्ञान और विवेक, अपने साहित्य और संस्कार, अपने इतिहास तथा पुराण के द्वारा उससे मुक्ति नहीं पा सकते, और चंगरेजाचार्य की शिक्षा को ही सफल करना चाहते हैं, तो अभी उसका निपटारा कर लेना ठीक होगा। 'पाकिस्तान' की पुनर् में जितने 'स्थान' बन सके, बन लें। फिर देता जायगा कि अब हमारा स्थान कहाँ है ? मिर में, या चरण में।

इतना भय क्यों—जो हो, परिस्थिति तो यात्र यह है कि यात्र दक्षिण और उत्तर एक ही राष्ट्र के अंग और एक ही संस्कृति के अभि-मान हैं, और फलतः चाहे तो भा एक ही राष्ट्र-भाषा है। यह राष्ट्र-भाषा 'मागरी हिन्दी ही है' इसमें सन्देह नहीं। बाधा-व्यवहार, मरक को है। अंग्रेजों के द्वारा हिन्दों की पाठ प्रमो हो, देना नहीं कहा जा सकता। हिन्दी समस्या को विधान-परिवर्त में इमजिद स्थान नहीं मिला है, कि यह बहिषा अंग्रेजी मालता है। नहीं, हमका स्वयंज कुषा है, हमकी प्रति तथा उसके ज्ञान के कारण, फिर अंग्रेजों हिन्दी का इतना भय

अंग्रेजों यदि यात्र ही देश से चला गई तो भी देश को तो उसकी भाषा और पाठिण्य का उपयोग करना ही होगा। और कुछ नहीं, तो हिन्दी ही नहीं, या इस प्रकार की स्थिति की न तो हिन्दी को कामयाब, और न सम्भावना ही। अंग्रेजों को तब तक अपना काम करेगी तब हिन्दी अपना स्थान नहीं लेना और हिन्दी तभी हमका है सकेगी, जब हमको सचमुच सम्भाव्य मिले।

नया कुछ नहीं करना—तो आज संघ के एक बड़े भू-भाग की वह राज-भाषा बन चुकी है। पाकिस्तान के परिचमी-खंड की विह्वल रूप में वह राज-भाषा है, और पूर्वी-खंड की उसी रूप में राष्ट्र-भाषा भी। हैदराबाद की वह उसी रूप में राज-भाषा-रही है, और काश्मीर की भी वह सरल 'उर्दू' के नाम से दोनों लिपियों, 'नागरी और फारसी' में राज-भाषा है। इनके अतिरिक्त पाकिस्तान से बचे पंजाब से लेकर बंगाल की सीमा तक उसी का अपने प्रकृत रूप में राज्य है। हिमालय से लेकर विन्ध्य तक ही नहीं, उसके कुछ नीचे तक उसी का सरकार है, संघ-में आज आसाम, बंगाल, उत्तरकल, मद्रास और बम्बई के प्रदेशों को ही उस पर विचार करना है। इनमें भी मद्रास और बम्बई के प्रांत तो उसके मुसलमानी रूप यानी 'हिन्दुस्तानी' को अपने वहाँ के मुसलमान की मातृ-भाषा मान चुके हैं, और सन् १८७५ से उसमें उन्हें शिक्षा भी देते आ रहे हैं। इधर पूज्य धार की कृपा से कितने हिन्दी या हिन्दु-स्तानी के जानकार भी वहाँ पैदा हो गए हैं। इस प्रकार सच पूछिए तो राष्ट्र को नया करना कुछ भी नहीं है। बस, जो कुछ अभी तक राष्ट्र-भाषा के नाम पर जहाँ-तहाँ होता रहा है, उसी को एक मार्ग पर लगाकर उसको अपनी छाप से मुष्ट और प्रमाणित कर देना है। रोप तो आप ही धीरे-धीरे होता रहेगा।

राष्ट्र-भाषा का विरोध कौन करते हैं—माना, कि आज ही दिल्ली से राष्ट्र-भाषा की घोषणा हो गई तो इसका तुरन्त प्रभाव किसी ऐसे व्यक्ति पर तो पड़ा नहीं, जो उसका भाकर नहीं। राष्ट्र का प्रत्येक प्राणी राष्ट्र-भाषा पढ़े ही, ऐसा भी इसका कुछ अर्थ नहीं। प्रत्येक प्रांत अपनी भाषा व राज-भाषा का नियंत्रण आप करेगा। वह चाहे तो प्रत्येक प्राणियों के लिए राष्ट्र-भाषा को अनिवार्य कर दे और न चाहे तो किसी राज्या में उसे स्थान न दे, और उसे उन लोगों के विकल्प-या शक्ति पर छोड़ दे, जो प्रांत से बढ़कर राष्ट्र से अपना सम्बन्ध स्थापित करना और समस्त राष्ट्र में अपना करतब दिखाना चाहते हैं। निदान राष्ट्र-भाषा

का विरोध जनता की ओर से नहीं, प्रतिनिधि की ओर से है। और वस्तुतः भात्र के प्रतिनिधि भी जनता के प्रतिनिधि नहीं, विद्रिष्ठ राज के ओर हैं, जो उसकी रीति-नीति से मुक्त नहीं। उनके जीवन का विकास अनुकूल या प्रतिशूल चाहे त्रिय दशा में हुआ, विद्रिष्ठ-श्राया में ही हुआ। इसी से उनका अंग्रेजी-मोह भी बढ़ा है।

परन्तु इस मोह से राष्ट्र का उद्धार और लोक का कल्याण तो नहीं हो सकता। नहीं लोक-मंगल के लिए तो उस लोक को अपना ही पड़ेगा, जो थय तक सरकार की उपेक्षा का पात्र रहा है। 'लोक-पुनि' और 'लोक-वाणी' का सरकार 'राष्ट्र-पुनि' और 'राष्ट्र-वाणी' के विरोध में कभी नहीं हो सकता। कारण कि सबकी धारणा का विकास एक ही ढरे' पर हुआ है, और सबकी संस्कृति एक ही है। भाषा की प्रकृति चाहे प्रकृति भिन्न हो, पर प्रकृति सब की एक है। इसी एक प्रकृति ने हमको एक सूत्र में बाँध रखा है, और इसी को भात्र फिर एक वाणी की आवश्यकता है। संस्कृत और प्राकृत की सीधी परम्परा में अवरय ही वाणी 'नागरी' ही है, जो और कुछ नहीं 'नागर' अपभ्रंश ही का अक्षित रूप है, और फलतः उसका नाम भी है 'नागरी-भाषा'; जिसका शोध जान-बूझकर पिपर्सन आदि भाषा-मनीषियों ने कूट-नीति के अण किया है और हिन्दुस्तानी के भ्रम-भरे नाम को उसके स्थान पर किया है।

भाषा की दृष्टि से ही यदि हिन्दी और उर्दू का भेद होता तो 'हिन्दुस्तानी' से काम चल सकता था, किन्तु हिन्दी और उर्दू का मूल प्रकृति नहीं, प्रकृति का है; जिसके कारण अन्ध में उसे अज्ञान धर बनाना पड़ा। उसके अलग हो जाने पर त्रिठने रह गए हैं, प्रकृति एक ही है, उनकी वाणी की प्रकृति मजे ही भिन्न हो। दृष्टि की दृष्टि से भारतीय भाषाओं का जो वर्गीकरण हुआ है, स्वतन्त्र रूप से विचार करने की आवश्यकता है। पिपर्सन की 'मंगल' कुछ 'विद्रिष्ठ-रात्र' की रचा के लिए भी है ही; किन्तु

अभी उसकी आलोचना व्यर्थ होगी। यहाँ दिखाना हमें यह है कि बताने को यहाँ चाहे जितनी भाषाएं बता दी जायं, और उनका चाहे जितना मोत निकाल लिया जाय, पर साहित्य और शिक्षा की दृष्टि से महत्व धार्य और द्विद-कुल की भाषाओं को ही है। अतः हमें यहाँ इन्हीं को दृष्टि से विचार करना चाहिए और देखना यह चाहिए कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा के रूप में सभी लोगों के लिए अनिवार्य बना दी जाय, तो किसकी स्थिति क्या होगी।

गुजराती और हिन्दी—आर्य-भाषाओं में गुजराती के विषय में इतना कह देना पर्याप्त होगा, आज से २००-६०० वर्ष पहले उसका हिन्दी से कोई ऐसा विभेद न था, जिसका उल्लेख हो सके। राजका-स्थानी, अजभाषा और गुजराती में इतना साम्य है कि इन्हें सर्ग-बहनें कहा जाता है। राजस्थान के लोग किस सरलता से हिन्दी को अपनी भाषा समझते, और उसके लिए उद्योग करते हैं, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। एक मोराबाई को ले लीजिए, वह हिन्दी ही नहीं, गुजराती को भी अपनी ही समझती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती संस्कृत के पंडित थे। संस्कृत में भाषण देते फिरते थे। कलकत्ते के एक भाषण का उद्धा डोक से नहीं हुआ। अट हिन्दी को अपना लिया। स्वामी जी संस्कृत को मातृ-भाषा कहते थे। फिर भी उन्होंने देख लिया कि संस्कृत से अब जनता का काम नहीं चल सकता। निदान हिन्दी को 'आर्य-भाषा' आर्यावर्त की भाषा के रूप में लिया, और उसी के द्वारा अपना सारा प्रचार किया। राष्ट्र-पिता म० गान्धी भी उसके निरचय समर्थक हुए और हिन्दी को राष्ट्र-भाषा माना। कहीं तक कहें, 'नागरी' के विकास में गुजरात का भेदा हाथ है। भाषा और लिपि दोनों ही के विकास में उसका योग सबसे अधिक है। 'दक्षिणी' के कवियों ने आरम्भ में अपनी भाषा को 'गुजरी' यों ही नहीं कहा है। यदि आप नागरी लिपि के विकास पर अधिक ध्यान दें, और राष्ट्र-दूतों तथा गुर्जर प्रतिहारों के राज्य का भेसा हों तो आप ही स्पष्ट हो जाय कि गुजरात

और हिन्दी में इतना घना सम्बन्ध क्यों ? प्रियर्सन की भाषा-परिष्कार में भी यही बात की गई है। गुजराती भी पश्चिमी हिन्दी की भाँति 'अंतरंग' या भीतरी भाषा है, और लिपि तो गुजराती की भी नागरी ही है। देवनागरी का प्रचार कम और देवी-नागरी का अधिक है, पर इधर देवनागरी की ओर मुकाबल अधिक है। लिपि के क्षेत्र में उनकी स्थिति हमारे विहार-प्रांत की-सी है।

मराठी और हिन्दी—गुजराती के बाद मराठी की ब्रिजिण्ड, लिपि में कोई ऐसा भेद नहीं। मराठी के सभी अक्षर हिन्दी में चलते हैं। प्रकृति की दृष्टि से यह पश्चिमी हिन्दी की अपेक्षा पूर्वी-हिन्दी के साथ दिखाई देती है। प्रियर्सन साक्षर उसे 'अंतरंग' या बाहरी पेश की चीज समझते हैं। पर सब पूर्णतः तो व्याकरण के अनिश्चित इन भाषाओं का कोई ऐसा भेद नहीं जो एक को दूसरे से अलग कर सके। महाराष्ट्र के लोग किम सरलता से हिन्दी पर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं, ऐसे कोई 'घात्र' के परासी सम्पादक भी पराङ्कर से पूछ दें, अपेक्षा प्रसिद्ध राष्ट्र-सेवी बाबा राजवण्डा से गुन लें। हिन्दी का इतिहास देखें तो पता चले कि इसका रहस्य क्या है।

द्विज भाषाएँ और हिन्दी—मराठी की भाँति ही उड़िया और बंगला तथा असमिया की भी स्थिति है। पर अक्षर कुल अधिक है। लिपि में भी थोड़ा भेद है और उच्चारण में भी। हिन्दु भक्ति-भाव का कुछ ऐसा सम्बन्ध रहा है कि इस वर्ग को हिन्दी सीखने में उनका रुक नहीं होता जिनका रुक बोलने में, हिन्दी का अंतर-भेद बहुतेको लगता है, पर यहाँ उनका विचार नहीं। घात्र परिस्थिति यह है कि काम-काजी हिन्दी को सीखने में किसी भी कार्य-भाषा-भागी को उनका रुक नहीं जिनका कि द्विज भाषा-भागी का है। जवन: 'असम-प्रवा' भी उड़ी की ओर से अधिक है। उनमें भी 'द्विज' वा नासिक भाषा-भागी को ही सचने अधिक रुक है और मराठी की ओर से उड़ी को

सबसे अधिक भद्रभाषा भी गया है। अतः कुछ इसका भी विचार करना चाहिए।

द्रविड-भाषा भी दो वर्गों में बँटी है, और उन दोनों में होड़ भी कुछ कम नहीं। श्री प्रियसैन साहब ने एक मध्य का वर्ग भी माना है, पर वास्तव में यह वर्ग हिन्दी का हो नहीं गया; बल्कि ही जाने की स्थिति तक पहुँच चुका है, अतः उसको चिन्ता नहीं। द्रविड और आर्य का भेद प्रायः है। आर्य का आर्य-भाषा से जितना मेल-मिलाप रहा है, उतना द्रविड का नहीं। यहाँ तक कि उसके प्राचीन वैयाकरण संस्कृत को ही उसकी भी प्रकृति बताते थे। परन्तु भाषा-शास्त्र की दृष्टि से उसे अलग ही माना गया है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि उन्हें हिन्दी सीखने में उतना धम नहीं, जितना थुर तामिल में है।

आर्य से ही मिलती-जुलती बहुत-कुछ स्थिति कन्नड की भी है। 'कर्नाटक पत्रिय' का प्रताप उत्तर में भी चमका था। आर्य की भाँति ही उसका भी कभी आर्य-भाषा पर शासन था। इधर जैन मत के प्रचारकों के द्वारा अपभ्रंश का प्रसार भी उधर खूब हो गया था। भाव यह है कि उन्हें भी हिन्दी का सीखना सब नहीं सकता। अरप-काब में ही वे भी हिन्दी के अधिकारी हो सकते हैं।

किन्तु इसके आगे बढ़ते हुए कुछ संकोच होता है। 'मन्नयाळम' और 'तमिल' की स्थिति कुछ निराली है। उन्हें कुछ-न-कुछ कष्ट का सामना करना पड़ता है। यह भी विशेषतः 'तमिल' के पत्रि-संकेतों या चर्चों की कमी के कारण उनका विज्ञापण उन्चाण भी परिहास का कारण होता है। फिर भी उनकी प्रतिभा और उनका अभ्यवसाय सराहनीय है। हिन्दी-भाषा का बोध उन्हें शीघ्र ही जायगा। बोलना न सही, लिखना तो उनका अवश्य सुबोध होगा। सन् ३१ की गणना के अनुसार उनकी कुल संख्या प्रायः २०४१२००० के लगभग थी, और मन्नयाळम की ११३८००० के लगभग। इस प्रकार दोनों की मिला-

कर दें तो आज भी ३ करोड़ से अधिक संख्या का यह प्रश्न नहीं है। सच्ची जटिलता हिन्दी के सामने है। और फलतः विरोध भी हिन्दी का पक्का हो रहा है।

अदूरदर्शी न बनें—श्रद्धा-भाषी आज किसी भी दशा में ७-८ करोड़ से अधिक नहीं हैं; जिनमें से लाखों की संख्या में हिन्दी सीख चुके हैं। इसलिए नये सिरे से फिर इस प्रश्न को उठाना ठीक नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि अपनी आज की अड़चन को इतना महसूस न दें, कल के महसूस को देखें, और अपनी अदूरदर्शिता के कारण अपनी संतान के चेत को संकुचित किंवा संकीर्ण न बनायें। आज भले ही आवेश में आकर चाहे जितना राष्ट्र-भाषा हिन्दी का विरोध कर लें, पर अंत में जाकर उन्हें सहर्ष इसे अपनाना होगा, और तब अपने इस आग्रह पर पछुताने के अतिरिक्त और कुछ शेष नारहेगा। अपनी चतुरी और कुशलता के लिए जो त्याग रहे हैं, आशा है इस समय अवश्य सफलता प्राप्त करेंगे और किसी मुलावे में न आकर अवश्य राष्ट्र का पक्ष लेंगे। उनके थोड़े-से काम से राष्ट्र का कितना बड़ा उपकार होगा, इसे आप तब तक ठीक नहीं समझ सकते, जब तक आपके सामने अंग्रेजी का मोह बना है। अंग्रेजी का झगड़ा छूटा नहीं कि सारा झगड़ा दूर है। अंग्रेजी नहीं, अंग्रेजी के मोह से मुक्त होने का प्रश्न और है। इसी से उतावली और बहरी की पुकार भी। हम अंग्रेजी के शत्रु नहीं, पर उसके भारत भी ऐसे नहीं कि उसको कोने से उठाकर अंगूरे पर रख दें, और अपनी सच्ची और वैनी राष्ट्र-भावना को कुंठित करें। आशा है शीघ्र उनके सहयोग से राष्ट्र-भाषा की पताका उस 'उद्-ए-मुशरफा' अथवा 'लाज किले' पर फहरायगी; जो सन् १७४४ ई० से हिन्दी का विरोधी और 'विजायत' का भक्त रहा है।



हिन्दी, हिन्दुस्तानी और तेलगू

(डाक्टर रघुवीर)

आगामी कुछ मास के बाद भारत के विभिन्न प्रांतों के प्रतिनिधि-
गण दिल्ली में इकट्ठे होकर निश्चय करेंगे कि भारत की राष्ट्र-
भाषा का स्वरूप क्या हो ?

उत्तर प्रांतीय प्रदेश में हिन्दी ने जो गौरवर्य पद प्राप्त किया है,
वह सर्व-विदित है। पूर्वी पंजाब से ये अधिकतम सुमहत्मान जा चुके हैं,
जो प्रायः हिन्दी के जन्म-जात विरोधी समझ जाते थे। बर्मा के मंत्री
श्री गोरीचन्द्र भागंड ने बहुत पदमे ही हिन्दी को अपने प्रांत की
राज-भाषा घोषित कर दिया है। आगरा और अरब के निकटवर्ती प्रांतों
में भी उसी प्रकार हिन्दी को राज-भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया
है। बिहार की प्रांतीय भाषा हिन्दी है, राजस्थान और मध्यभारत
की रिवाजों में भी जनता तथा राज्य की भाषा हिन्दी मानी जा
चुकी है। मध्यप्रदेश तथा बरार में हिन्दी और मराठी दोनों भाषाएँ
प्रचलित हैं। इसी प्रकार बम्बई के उत्तरी प्रदेश में मराठी और
गुजराती का प्रचलन है। पश्चिमी बंगाल में प्रांतीय भाषा बंगला
है। पूर्वी बंगाल में भी तथा द ' कान्चन-दुर्ग में प्रयुक्त होने के लिए
पश्चिमी-बंगाल-सरकार बंगला के लिए ही अधिक प्रवृत्तीय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर भारत के किसी भी प्रांत का

राज्य में हिन्दुस्तानी नाम की कोई भी भाषा प्रचलित नहीं है। कुछ इने-गिने आदर्शवादी व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो हिन्दी और उर्दू को मिलाकर हिन्दुस्तानी-जैसी एक भ्रामक वस्तु के सृजन तथा प्रचार के लिए प्रयत्नशील हैं। किन्तु हमारे व्यवहार-कुराल शासकगण इस अस्तित्व-हीन वस्तु को कोई भी उत्तरदायित्वपूर्ण पद देने-में असमर्थ-से प्रतीत हो रहे हैं।

हमारे देश का दक्षिणी भाग निरान्त सांस्कृतिक एवं संस्कृतमय है। अपने पाठकों के लिए मैं प्रोफेसर पी० टी० रावू द्वारा हाल में लिखे हुए 'वेदगू साहित्य के इतिहास' के कुछ अंश उद्धृत कर रहा हूँ—

किसी भी प्रान्तीय साहित्य का अर्थ मूलसंस्कृत तब तक नहीं किया जा सकता जब तक यह न विचार कर लिया जाय कि उक्त प्रान्त ने संस्कृत साहित्य की कितनी सामग्री का सृजन किया है, क्योंकि संस्कृत ही तो आधुनिक भारतीय साहित्य को मूल प्रेरणा तथा शक्ति प्रदान करने की क्षमता रखती है। यहाँ पर उर्दू की हट दी जा सकती है। शेष अन्य भारतीय भाषाओं में जितने भी प्रारम्भिक काल लिखे गए हैं, उनके रचयिता निश्चय ही संस्कृत के पंडित रहे हैं। जहाँ-क वेदगू साहित्य का सम्बन्ध है, इसके सभी प्रारम्भिक रचयिता ही संस्कृत के ज्ञाता थे। और जहाँ तक प्रभाव की बात है, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य संस्कृत वाङ्मय से सदा ही अनुप्राणित होता रहा है।

हम कह सकते हैं कि प्रत्येक प्रान्तीय साहित्य के क्रमागत विभाग में तीन प्रमुख धाराओं का प्राधान्य है। उन्हें हम क्रमशः शुद्ध संस्कृत, शुद्ध प्राकृत और संस्कृत-प्राकृत के समन्वय से बनी हुई धारा कहते हैं।

वेदगू साहित्य का स-जातीय अर्थ है महाभक्ति भाव या महाभारतम्। 'भारत-धर्म' के प्रचारार्थ इसका सृजन हुआ। बाणभद्र ने उक्त रचना राजर्षी के पालुत्व राजा भोज के आदेशानुसार की

ची जिसके राज्य-काल में ही मुहम्मद गज़नवी ने उत्तर भारत में लूट-पाट मचा रखी थी। राजा नरेन्द्र ने विचार किया कि शत्रुओं का सामना न कर सकने वाली अशक्त हिन्दू जाति पर क्रमशः बौद्ध और जैन-मत का अव्यक्त और एवशील प्रभाव पड़ रहा है। उसने हिन्दू-धर्म की शिष्टा देने का हृदय निश्चय किया। धर्म की वास्तविक व्याख्या महाभारत में हुई है, और राजा उसके पात्रों का वंशज माना जाता था। उते तरकाज़ीन जैन पुराणों का मूलोच्छेदन भी करना था। महाभारत में लोकायतनमय पूर्व नेतृत्व-प्रधान प्रवृत्तियों का प्राधान्य है। इस ग्रंथ द्वारा जैन और बौद्ध मत का सार्वजनिक-प्रभाव ही नहीं नष्ट हो गया, अपितु जनता को भी इस योग्य बनाया जा सका कि वह अपने जीवन में धीरता और हृदयपूर्क हस्वाम से संपर्क कर सके।

महाभारत-काल के बाद वैदिक साहित्य में रामायण-काल का प्रादुर्भाव होता है। इसी के बाद भागवत-काल आता है।

ईसा की १२ वीं शताब्दी के अन्त तक का समय पुराण-काल और अनुवाद-काल कहा जाता है। उसके बाद पुराणों के अ-व्याप्य ग्रंथों का अनुवाद-कार्य चलता रहता है। ऐसा होना भी स्वाभाविक ही था। कारण, प्रस्तुत वैदिक साहित्य द्वारा हमें ज्ञात होता है कि इसका अन्तर्गत ही जनता में माह्य-धर्म तथा संस्कृति का व्यापक प्रचार करने के लिए हुआ था, और यह कार्य रामायण, महाभारत एवं पुराण-जैसे विशाल ग्रंथों के बिना असम्भव था।

ये पुराण न्यूनाधिक रूप में संसार के विभिन्न दृष्टिकोणों से परिचित कराने के लिए संपूर्ण सृष्टि का इतिहास प्रस्तुत करते हैं। रामायण और महाभारत में भी हमें उसी सार्वभौमिक भाव का दर्शन मिलता है। मौलिकता के अभाववश नहीं, अपितु किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही निरपेक्ष विचारों से उक्त ग्रंथों के अन्त में

अपनी गाली शक्ति लगा दी थी। यदि उ
होने तो निश्चय ही परिणाम भी सम्भवा है।
ईसा की १६वीं शताब्दी के आरम्भ में
अन्त तक का समय तेजगू-साहित्य में प्रबन्ध
इन प्रबन्धों का सूत्रन भी संस्कृत के महाकाव्य
संस्कृत में पाँच महाकाव्य हैं—ऋष्यश, उ
शुभीष, शिशुपाद-वध और नैषध। ठीक इस
पाँच महाकाव्यों का प्रम इस प्रकार है—स्व
अमुक्त माह्वद्, वसु भरिम्, शृंगार नैषधम्
माहात्म्यम्।

जैसे संस्कृत साहित्य का, ठीक उसी प्रकार ते
भी कोई व्यक्ति पंडित नहीं माना जा सकता, जब
पाँचों महाकाव्यों का विशद अध्ययन न कर चुका हो।
किन्तु तेजगू के तो प्रत्येक महापंडित के लिए उ
काव्यों का परिपक्व ज्ञान होना आवश्यक है; का
अधिकारी विद्वान् हुए बिना कोई व्यक्ति तेजगू का महाप
सकता।

हाँ, तो विजयानगरम् के पतन के साथ ही आन्ध्र दे
गौरव तथा चाराघों पर पानी फिर गया। जनता में आ
की भावना भी जाती रही। ईसा की १७वीं शताब्दी के म
१६वीं शताब्दी तक के समय को अशांति-काल कहा जाय
चित न होगा। इस काल को सार्थक करने वाले कुछ शतक ज
गए थे उनके नाम भट्टहरि, रामशतकम्, आन्ध्रनायकगण
नरसिंहराजकम् थे; १७वीं शताब्दी के प्रारंभ में

उनके गाँवों तथा नगरों को सुसज्जमान लूट-पाट रहे थे। उनके मन्दिरों को तोड़ना, तथा उनकी स्त्रियों का अपहरण करना तो सुसज्जमानों का साधारण कार्य था। ये तीनों शतक कश्चित् के गुप्तों से युक्त, तथा भावगत सौन्दर्य एवं शैलीगत विशेषताओं से चोत-प्रोत हैं। इनका अनुवाद यदि सभी भारतीय भाषाओं में हो सके तो अनुचित न होगा। उनमें अपने देश को शिष्टा एवं आनन्द प्रदान करने की प्रयत्न सामग्री मिलेगी, इसमें सन्देह नहीं।

सत्रहवीं शताब्दी में ही गद्य-काव्य का आरम्भ होता है। भीरुनाथ राय का 'बाल्मीकि चरित्रम्' तेलगू साहित्य की प्रथम गद्य-रचना है। १८वीं शती में कवि श्री बेंकेट थल ने महाभारतम्, महाभागवतम् तथा रामायणम् की रचना गद्य में की। इसी समय बंजोर, मद्रास तथा मैसूर में भी अनेक गद्य-ग्रन्थ लिखे गए। तेलगू में नाटक के सम्बन्धों में यद्यपि अल्प संख्या में हैं। इन्होंने भागवतम्, वीथी-नाटकम् और हरिकथा की रचना की। भागवतम् द्रव्य तथा देव दामिनी द्वारा इन नाटकों का प्रदर्शन बड़ी कुशलता से होता है। इन नाटकों में नृत्य, वाद्य, संगीत तथा कला के साथ-साथ प्राचीन भारत-नाट्य के मुख्य-तत्वों का सुन्दर समन्वय भी मिलता है।

आधुनिक तेलगू-साहित्य के संस्थापकों में रायबहादुर के. चिरु-नाथलिंगम् का नाम गौरव के साथ लिया जाता है। पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उनकी हृत्ति राजशेखर-चरित्रम् तेलगू के प्रथम उपन्यास के रूप में प्रकाशित हुई है। अपने संस्कृत के अनेक नाटकों का तेलगू में अनुवाद भी किया है। अन्त्य की अपेक्षा उनके अनुवादों में विचारों की सरलता अधिक है। साथ ही, व्यर्थ का पाठ्य-वर्णन प्रदर्शन तनिक भी नहीं। अंग्रेजी शिष्टा के आदेश में बहुत-से शिष्टित आर्य-वासियों ने अंग्रेजी नाटकों को देखा, और तेलगू में भी उनका अनुकरण करना चाहा। ठीक इसी समय पारसी नाटक-समितिषा प्रकार में 'आई', त्रिनमें हिन्दी के नाटक खेले जाते थे। उन्हें देखकर विजयानगरम् के

मद्रास में मद्रास गवर्नमेंट ने अपने यहाँ संस्कृत-भाष्य-मिति स्थापित की, जिसमें संस्कृत के नाटक होते जाते थे। मुगल के जमींदार ने भी एक भाष्य-मिति स्थापित की, जिसमें हिन्दी के नाटक होते जाते थे। तभी में संस्कृत के नाटकों का तेलगू-अनुवाद चारम्भ हुआ। प्रथम ग्रन्थ जो संस्कृत से तेलगू में अनुवादित होकर प्रकाशित हुआ वह था "नरकमुरा विजय वियोगम्"। उसके बाद वीरराजिन्नु के अभिज्ञान शाकुन्तल और रत्नावली नाटक प्रकाशित हुए। अब दो और नाट्य-मितियाँ बेलरी और मद्रास में क्रमशः सरमविनोदिनी-सभा तथा सगुनविज्ञानिनी-सभा के नाम से स्थापित हुईं। उनके कुछ नाटक तो आयन्त उत्कृष्ट और प्रख्यात हुए वद्यपि उनका मूलतः संस्कृत प्रणाली पर ही हुआ था।

तेलगू के चल-चित्र न्यूनाधिक रूप में हिन्दी के अनुकरण-आरम्भ हैं। उनके गीतों में भी कोई विरोधता नहीं मिलेगी।

तेलगू के दैनिक-साप्ताहिक तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में निम्न-लिखित उल्लेखनीय हैं :—

"आंध्र-पत्रिका दैनिक तथा साप्ताहिक दोनों रूप में प्रकाशित होती है। कृष्ण-पत्रिका एक ख्याति-प्राप्त साप्ताहिक है। श्री रामनाथ गोयनका द्वारा दैनिक आंध्रप्रभा प्रकाशित होती है। आनन्दवाणी, विहारी तथा त्रिलिङ्ग-नामक अन्य साप्ताहिक भी प्रकाशित होने हैं। कुछ ऐसी पत्रिकाएँ भी हैं, जो कुछ समय से तेलगू साहित्य की सेवा तो कर रही हैं, किन्तु भविष्य में अधिक समय तक उनके चलने की संभावना कम है, उनमें मञ्जु-वाणी, कला-शारदा और प्रबुद्ध-आंध्र विशेष उल्लेखनीय हैं। डॉक्टर केशरी की गृहलक्ष्मी-नामक एक-मात्र पत्रिका महिलाओं के लिए प्रकाशित होती है।"

पाठक ध्यान देंगे कि उक्त उदाहरणों में सभी पुस्तकों के नाम संस्कृत में हैं, और ये नाम केवल तेलगू में ही नहीं, भारत की सभी आर्य-भाषाओं में वैदिक-काल से लेकर आज तक प्रचलित रहे हैं।

तेलगू साहित्य में १९वीं शताब्दी तक जितने भारतीय ग्रन्थ प्रकार में आवे हैं, अधिकांशतः संस्कृत में हैं । बाद में उक्त साहित्य पर पारचाय्य प्रभाव भी पड़ा, और ठीक यही दशा अन्य भारतीय साहित्यों की भी रही है । तेलगू साहित्य के उत्कृष्ट विद्वानों का विचार है कि तेलगू शब्द-भाण्डार में ७५ प्रतिशत शब्दों का रूपान्तर संस्कृत से हुआ है । तेलगू शब्द-कोष के अग्रजोक्तन से इस मत की पुष्टि भी हो जायगी : संयुक्तप्रान्त और पंजाब की अपेक्षा तेलगू लोगों के सांसारिक जीवन, धर्म-कर्म, पूजा-पाठ अथवा संगीत और नृत्य-सम्बन्धी सभी दृष्टिकोण सर्वथा भारतीय हैं । अतीत भारत के साहित्यिक इतिहास में भी इनकी विशेषता को स्वीकार करना होगा । निरधर ही, उत्तर-भारतीय जन, जब कभी आंध्र-प्रदेश के इतिहास पढ़ेंगे तो उनके प्रति प्रेम और एकता के भाव से वे प्रभावित हुए बिना न रहेंगे ।

क्रारसी और धरबी से ज़दी हुई हिन्दुस्तानी की भाषा और विचार-धारा में आंध्र-निवासियों को किसी भी भौति भी अभान्वित करने की शक्यता नहीं है । उस जाति के लिए तो यह पूर्णतया विदेशी सिद्ध होगी । बड़ी ही नासमझी का कार्य होगा, यदि हम दक्षिण-भारतीयों पर हिन्दुस्तानी, या हमारे शब्दों में धरबी-क्रारसी से युक्त हिन्दी को आदने का प्रयत्न करेंगे । दूसरी ओर हिन्दी में उन्हें कुछ-न-कुछ तो अपनापन मिलेगा ही । हिन्दी के माध्यम से उन्हें भारतीय कला, कविता, पुराण, धर्म तथा मनोविज्ञान के उत्तम आदर्शों का परिचय अनिवार्यतः मिलेगा । हिन्दी और संस्कृत में एक सांस्कृतिक सम्बन्ध है । उत्तर भारत में हिन्दी जिस प्रकार संस्कृत की प्रमुख उत्तराधिकारिणी रही है, उसी प्रकार दक्षिण भारतीय-जनता द्वारा भी यह गौरव तथा सम्मान प्राप्त करेगी ।

हिन्दी और उर्दू का मुकाबला

(श्री रविशंकर शुक्ल)

जब हिन्दी वाले कांग्रेस वालों की हिन्दुस्तानी नामवारी उर्दू का या गांधी जी के हिन्दुस्तानीवाद का विरोध करते हैं तो उन्हें चुप कर के लिए प्रायः ताना दिया जाता है कि अगर अपना काम-काज अंगरेजों में क्यों करते हैं, पते अंगरेजी में क्यों लिखते हैं, आदि; और अन्त में उन्हें उपदेश दिया जाता है कि हिन्दी का ठोस काम कीर्ति और पोषा का नाश करते हुए उनमें पूछा जाता है—“जैसा उर्दू की उन्नावि उर्दू वाले कर रहे हैं, वैसे हिन्दी वाले कर रहे हैं ? जैसा साहित्य-प्रकाशन उर्दू वाले कर रहे हैं वैसे करने वाली कोई हिन्दी की संस्था है ?” उनका मतलब होता है, हम और हमारे राष्ट्रीय नेता चाहे कुछ करें, हममें कुछ मत कहो। इन तानों का उत्तर देना आवश्यक है। जहाँ तक अंगरेजी का सम्बन्ध है, हिन्दी वाले अंगरेजी का जो आश्रय लेते हैं उसको वकाफत करने की जरूरत नहीं, परन्तु वे लोग पहले यह मतलब कि वे 'हरिजन' को अंगरेजी भाषा में क्यों निकालते हैं ? कांग्रेसी-नेता अंगरेजी में वक्तव्य क्यों देते हैं और परिवर्तित नेहरू की लेखनी से अमर-साहित्य कम-से-कम उसी अटपटी 'हिन्दुस्तानी' में क्यों नहीं निकलता जिसे वे मन्च से जनता की भाषा कहकर बोले ? वर्तमान सरकार के परिवर्तित नेहरू-जैसे 'हिन्दुस्तानी' के धनी-धोरी

कांग्रेसी सदस्य अपने रेडियो से प्रसारित किये जाने वाले भाषण अँगरेजी में सोचकर, अँगरेजी में लिखकर, उनका सदा-सा 'हिन्दुस्तानी' अनुवाद पढ़ले सुनाकर फिर उन्हें अँगरेजी में क्यों सुनाते हैं ? क्या गांधी जी का अँगरेजी 'हरिजन' केवल अँगरेज पढ़ते हैं अथवा क्या सरकारी सदस्यों के अँगरेजी भाषण केवल चीनी और जापानी सुनते हैं ? अस्तु, यहाँ अँगरेजी की बीमारी की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं; उसमें हिन्दी वालों को ताना देने वाले भी उतना ही मुक्तला हैं जितने बेचारे हिन्दी वाले। यहाँ केवल इस प्रश्न के उत्तर में दो शब्द कहे जायेंगे कि उद्' वाले जो तरबची और साहित्य-प्रकाशन कर रहे हैं उसके मुकाबले हिन्दी में क्या हो रहा है, उत्तर है, कुछ नहीं। कारण भी सुन लीजिए। उद्' को जैसा राज्याध्यक्ष १२० वर्ष से प्राप्त है, वैसा हिन्दी को आज भी प्राप्त नहीं। इसके लिए भी कांग्रेस जिम्मेदार है (उदाहरणार्थ, आल इंडिया रेडियो, देश की प्रायः सभी अदालतों, पुलिस-विभाग, म्यूनिसिपैलिटियाँ आदि, आदि) हिन्दी को राज्याध्यक्ष देने के लिए अधिकांश प्रान्त आज भी तैयार नहीं। वे हिन्दी के लिए अपनी छोटी उँगली भी उठाने को तैयार नहीं। हिन्दी के पास कोई निजाम भी नहीं। यदि आज कोई हिन्दू राजा हिन्दी के लिए यही करे जो निजाम ने उद्' के लिए किया है और कर रहा है तो सबसे पहले हिन्दी वालों को ताना देने वाले ही उसे साम्प्रदायिक घोषित करेंगे और सत्याग्रह करने पर दौड़ेंगे, परन्तु जो राजगोरानाझाचारी जाकर निजाम की पीठ टोकते हैं और उस्मानिया-विरवविद्यालय को 'हिन्दुस्तानी' को शिक्षा का माध्यम बनाने के कारण 'प्रथम स्वदेशी विरव-विद्यालय' घोषित करते हैं। जिस प्रकार मौलाना आजाद उद्' का समर्थन करते हैं और कर सकते हैं, उसी प्रकार हिन्दी का समर्थन गांधी जी पूरी तरह से कर रहे थे। जिस प्रकार भी आम्फचली कांग्रेस में रहते हुए हर उद्' में बोलते हैं, उसी प्रकार डा० राजेन्द्रप्रसाद हर हिन्दी में बोलेंगे ? जिस प्रकार डा० चन्द्रब एक उद्' के लिए सब-

कुछ करने को स्वतन्त्र है, उसी प्रकार टंडन जी भी हैं ? जिस प्रकार
 डा० जाधव हुसैन दिन्दुस्तानी तालोमी मठ में रहते हुए जामिया
 मिलिया के सर्वेसर्वा हैं, उसी प्रकार मि० श्रीमन्नाभायल चप्रवात्र
 हिन्दी की सेवा करेंगे ? जिस प्रकार एक 'नेशनलिस्ट' पत्र 'बाम्बे
 प्रानिक्लि' के 'नेशनलिस्ट' सम्पादक श्री चन्द्रुता 'बेनेजवी उद्' का
 समर्थन करते हैं, उसी प्रकार 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के सम्पादक
 देवदाम गंधी हिन्दी का पक्ष लेंगे ? जिस प्रकार पत्राक्ष, मद्रास
 और बंगाल की सरकारों हिन्दी का विरोध और उद्' का पोषण
 करती हैं, उसी प्रकार संयुक्त-प्रान्त, बिहार और मध्यप्रान्त की सरकारों
 उद्' का विरोध करना तो शुरू रहा, हिन्दी का पोषण हो करती हैं वा
 करेंगी ? उन पर तो 'हिन्दुस्तानी' का भूत मया है न। वे तो उद्'
 की उतनी ही, बल्कि अधिक, उन्नति करेंगी जितनी हिन्दी की, और
 दूसरी और हिन्दी को मुन्नत करेंगी (जैसे विद्वांस में)। हिन्दी के परं
 युक्त-प्रान्त की कांग्रेसी सरकार को ही भीतिप। उसने पीणपुर रिपोर्ट
 का उत्तर देने हुए अपनी पुस्तिका 'मुसलमान अधिनियम और दूरमन
 मूवाजात मुसदहा' में स्पष्ट स्थिति का किया था—“दूरमन ने कभी
 हिन्दी को उद्' पर कैदियन नहीं दी बल्कि बाह्य मीशों पर उद्' को
 तारीफ दी गई है...।” कांग्रेस के 'दूरमन' और 'बहुमत' ने हिन्दी
 को संविधान के अन्तर्गत करने का जो प्रयत्न किया था उसमें बहुत-बहुत सफलता
 पाई थी, वह संपेत नहीं था, इसलिये जनता की प्रतिनिधि और सब
 मामलों में विविध सरकार की विरोधी कांग्रेस ने भी उसी नीति को
 लागू रखना उचित समझा। क्या-हिन्दी ने वह छाता की थी कि
 राष्ट्रीय सरकार के अन्तर्गत हिन्दी के दिन दिवसे, पारसु,
 कांग्रेस-सरकार ने हिन्दी को, और अपनी शक्ति से छाते करती हुई
 हिन्दी के परं उसने में, सहायता देना तो शुरू रहा, हिन्दी के साथ
 उत्तम भाव भी नहीं किया, जिनका कुछ बहुत बड़े बहुत ही भला
 के साथ किया जाता था।

कई हिन्दी-प्रांशों में पाठ्य-पुस्तकों से हिन्दी में अनुवाद करने के लिए एक लाख रुपया दिया जायगा तो उर्दू की पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण के लिए भी एक लाख रुपया खींच ही दिया जायगा, आदि । इसके विरुद्ध उर्दू प्रांशों में क्या हो रहा है, वहाँ की सरकारें क्या कर रही हैं, और करेंगी ?

यद्यपि केन्द्र पर दृष्टि डालिए । आज की मध्यकालीन सरकार में या तो उर्दू पर जान देने वाले हैं या 'हिन्दुस्तानी' पर जान देने वाले अर्थात् उर्दू-लिपि और उर्दू-शब्दों का देवनागरी और हिन्दी-शब्दों के साथ-साथ प्रचार चाहने वाले । वहाँ हिन्दी का कोई धनी-धोरी है ? जिस प्रकार सर मुज्जतान अहमद ने रेडियो-द्वारा उर्दू को पोषण किया था और आज भी कोई राष्ट्रवादी यदि उसे रेडियो-विभाग मिल जाय तो अगेत, वैसी हिन्दी की सेवा सरदार पटेल करेंगे ? जब इन कॉमेसी नेताओं के मुँह से पहले विरोध का एक शब्द नहीं निकला तो आज क्या आशा की जा सकती है ? जिस प्रकार आज हिन्दी-प्रचारकों के दिल में खींचावानी और संशय पैदा हो गया है, वैसा कभी किसी मुसलमान प्रचारक के दिल में पैदा हो सकता है ? जिस प्रकार आज हजारों हिन्दू-प्रचारक उर्दू और उर्दू-लिपि के पीछे मगवाले हैं, उसी प्रकार किसी मुसलमान को भी हिन्दी और देवनागरी की चिन्ता है । वास्तव में हिन्दी बाजों को ताना देने वाले जो प्रचर पृष्ठते हैं उसका उत्तर वे स्वयं हैं । हिन्दी को 'राष्ट्रीयता' के राहु ने मल किया है । एक ओर तो हिन्दुओं के लिए हिन्दी के साथ-साथ उर्दू और उर्दू-लिपि सीखना और सिखाना 'राष्ट्रीय' करार दिया जा रहा है और दूसरी ओर हिन्दी को 'कठिन', 'कृत्रिम' और न जाने क्या-क्या बतकर 'हिन्दुस्तानी' नामधारी उर्दू को 'राष्ट्रीय' बताया जा रहा है । हिन्दी का नाम लेना तो आज साम्प्रदायिकता है, फिर भला 'राष्ट्रीय' महापुरुष उसे कैसे पूछ सकते हैं ? और 'राष्ट्रीय' महापुरुषों के सिवा हिन्दी को पूजने वाला है ही कौन ? क्योंकि 'राष्ट्रीयता' केवल हिन्दुओं की-

'दोनों लिपि' का । अभी हाल में आन्ध्र के मुसलमानों का एक हेतुस्थान मौलाना आज़ाद से मिला था और यह इन्हा प्रकट की थी कि उनकी शिक्षा का माध्यम तेलगू के बजाय उर्दू हो । कहते हैं, मौलाना आज़ाद ने उनकी सिफारिश मद्रास के तत्कालीन प्रधान-मन्त्री से की थी । जिस प्रकार भारत का हर एक मुसलमान उर्दू पर पर जान देता है उसी प्रकार अहिन्दी-हिन्दुओं को कौन कहे, हिन्दी-हिन्दू भी नहीं दे सकते—उनमें भी डा० ताराचन्द्र और पण्डित सुन्दरलाल-जैसे महापुरुष उत्पन्न हो गए हैं । अहिन्दी हिन्दुओं को जो अब हिन्दी की चिन्ता रह ही नहीं गई है । भारत-भर के मुसलमानों को शक्ति और साधन उर्दू में लगे हुए हैं, परन्तु हिन्दुओं का प्रकाशन और डोम या पोला काम एक नहीं, दस-बाह भाषाओं में, जिनमें उर्दू भी शामिल है, हो रहा है । जिस भाषा की पोठ पर राज्य-सत्ता हो, जिसके दस करोड़ अक्षरपट अनुयायी हों, जिसे 'राष्ट्रीय' महापुरुषों द्वारा भी हिन्दी के समकक्ष स्थान दिया जाकर उसका राष्ट्रीय प्रकरणों में समान प्रचार अनिवार्य करार दे दिया गया हो, जिस पर अकेले निजाम ने कई करोड़ (और वह भी हिन्दू-कर-दाताओं का ही) चास तक खर्च का दिया हो, जिसकी सर्वाङ्गपूर्ण वृद्धि के लिए निजाम ने अ-उर्दू प्रदेश में ही २० लाख रुपया लगाकर एक विरव-विद्यालय सदा कर दिया हो, जिस पर आज भी प्रतिवर्ष लाखों रुपया खर्च करता हो, जिसके प्रचार-प्रसार के लिए निजाम लाखों रुपये प्रतिवर्ष गुप्त दान देता हो, जिसके पीछे जाग-जैसी राजनीतिक संस्था हो, उसकी वरन्धी और प्रकाशन का बेचारी हिन्दी से क्या मुकाबला, जिसके पीछे आज स्वयं हिन्दू लड़ लिये घूम रहे हों और जिसकी मुन्नव करने की किराक में स्वयं हिन्दी-भाषी हों ।

वह तो प्रश्न-कर्ताओं को स्वयं सोचना चाहिए कि संस्था और साधनाओं में हिन्दुओं के अधिक होते हुए भी हिन्दी-उर्दू के मुकाबिले में विवद रही है, जब कि वैयक्तिक दृष्टि से एक हिन्दी वाचा

भारत की राष्ट्र-भाषा

(श्री मौलिचन्द्र शर्मा)

विधान-परिषद् की आगामी बैठक में राष्ट्र-भाषा का प्रश्न उप-स्थित होगा, ऐसी आशा है। यह राष्ट्र-भाषा भारतीय भाषाओं में से एक होनी चाहिए, यह सर्वमान्य है। भारतीय भाषाओं में से ऐसी एक भाषा राजस्थान से बिहार तक के मध्यस्थ-देश की भाषा के आधार पर ही बनेगी, ऐसा भी प्रायः सर्वमान्य है। मतभेद उस भाषा के ध्वारण अथवा ढाँचे के विषय में नहीं, शब्दावलि और लिपि के विषय में है। हिन्दी और हिन्दुस्तानी दोनों ही का धातु-पाठ, विभक्ति प्रत्यय, ध्वारण और मौलिक-स्वरूप एक ही है। भारतीय शब्दावलि सहित भारतीय-लिपि देवनागरी में लिखी जाने पर यह हिन्दी कह-जाती है, और अभारतीय शब्दावलि आंशिक रूप से ग्रहण करके जब यह देवनागरी के साथ-साथ अभारतीय-लिपि फारसी और कुछ जगहों के मत से अभारतीय-लिपि रोमन में भी लिखी जाती है, तब इसे हिन्दुस्तानी कहते हैं।

भारतीय भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव—इसने विवेचन ही से स्पष्ट हो जायगा कि यह राष्ट्रीय दृष्टि से तो हिन्दी के रहते अभारतीय वर्णों वाली हिन्दुस्तानी अपाद्य होनी चाहिए। अहिन्दी-भाषी वर्णों की सुविधा को देखते हुए हिन्दी सबके लिए सहज और उपयुक्त स्थिर

होती है। पूर्व-भारत में बंगला, असामी और उड़िया बोली जाती है। तीनों का वाङ्मय संस्कृत शब्दावलि पर आधारित है और इन सबका लिपि भी देवनागरी के समान ही ब्राह्मी से उद्भूत और देवनागरी ही का प्रतिरूप है। पश्चिम भारत में मराठी और गुजराती की लिपि तो देवनागरी है ही, शब्दावलि भी हिन्दी ही के समान संस्कृत-मूलक है। दक्षिण की चार भाषाएँ यद्यपि संस्कृत वंश की नहीं हैं, परन्तु सदसो वर्ष से संस्कृत-कुटुम्ब में इतनी गूढ़ निष्ठा सहित मिल चुकी हैं, कि तमिल को छोड़ अन्य तीन दक्षिणी भाषाओं का वाङ्मय तो अनेक स्थानों पर उत्तर-भारतीय भाषाओं से भी अधिक संस्कृत-निष्ठ मिलता है। तमिल में भी प्रायः आधी शब्दावलि संस्कृत से ही आई है। दक्षिण की सब भाषाओं तथा लंका की भाषाओं की लिपियाँ भी ब्राह्मी से उत्पन्न हुई हैं और देवनागरी के ही सदृश हैं।

समान प्रवृत्तियाँ—इसी प्रकार इन सब भाषाओं के साहित्य की प्रवृत्तियाँ भी हिन्दी के सदृश हैं। दर्शन, व्याकरण, पुराण, इतिहास, विज्ञान, धर्म-शास्त्र, समाजनीति, अर्थनीति, राजनीति, कला इत्यादि जीवन के सभी अंगों के सम्बन्ध में सब भारतीय भाषाओं में एक-सी विचार-धारा प्रवाहित हुई है। उनका स्रोत, एक है—भारतीय संस्कृति। उनका लक्ष्य भी एक है—इसो भारतीय संस्कृति के आधार पर भारत राष्ट्र का उत्थान और नव-निर्माण। बाहर से जो कुछ भी उनमें आया और आयगा, वह भारतीय ही बनकर आयगा और रहेगा। इस कारण से प्रांतीय-भाषा-भाषियों को हिन्दी अल्पात्मिक, मनोवैज्ञानिक और भौतिक सभी कारणों से निकटतर, और सदृशतर है।

हिन्दुस्तानी का प्रश्न—फिर यह कैसा आश्चर्य है कि हमारे देश के अनेक सुपंडित और विचारशील, अथवा अभी तक अमात्य वंशों से दूषित हिन्दुस्तानी को राष्ट्र-भाषा पद पर प्रतिष्ठापित करना चाहते हैं। मैं यह नहीं मानता कि वे राष्ट्र-हित से प्रेरित नहीं हैं, परन्तु कुछ सामाजिक और ऐतिहासिक कारणों से उनके मनों में यह

भ्रान्त-धारणा घर कर गई है कि जिन अभारतीय तत्त्वों का सन्निवेश हिन्दुत्वानी में होता है उनके स्वीकार किये बिना भारत की राष्ट्रीय एकता के भाग्य में बाधा पड़ेगी। आइये, इस धारणा को भी तर्क की कसौटी पर कस लें।

हमारा पिछले प्रायः ४० वर्ष का राजनैतिक आन्दोलन का इति-
हास हिन्दू-मुस्लिम अथवा यदि अधिक शुद्ध कहें तो कांग्रेस और
मुस्लिम-लीग वाली प्रवृत्तियों के संघर्ष का इतिहास है। लीगी-प्रवृत्ति
इस्लाम-धर्म-जन्य उस 'तस्सुब' का राजनीतिक रूप है, जो मुसलमान
को परधर्मों से पूजा करना, और उससे असहिष्णुता-पूर्वक अलग
रहना सिखाता है। अन्यथा ऐसी मनोवृत्ति और विदेशी धर्मों को
मानने वाले अन्य लोगों में भी देखने को नहीं मिलती। ईसाई इस
देश में १९ सौ वर्ष पुराने हैं; परन्तु कभी भी वे अभारतीय नहीं बने।
फारसी इस देश में १२ सौ वर्ष से अधिक हुए जब आए। वे भारतीय
बन गए और हमारे राष्ट्र का एक विरचस्त और रङ्ग भंग हो गए;
परन्तु मुसलमान भारतीय संस्कृति को सदा से अस्वीकार करता आया
है और उसकी यही साथ रही है कि जिस प्रकार कुछ समय तक उसने
यहाँ इस्लामी-राज्य स्थापित करने में सफलता पाई, वैसे ही वह यहाँ
की संस्कृति को इस्लामी बना सके। दूसरे कई देशों में इसमें उसे
सफलता मिली है। तुर्की, ईरान, अफगानिस्तान आदि अन्य अरब
देशों में, इस्लामी-राज्य के साथ-साथ इस्लाम-धर्म और संस्कृति
म्यास हो गई। तुर्की और फारसी भाषाओं पर भी अरबी का गहरा
रंग पड़ा। भारत में फारसी भाषा की व्यापक रूप देने में जब उन्हें
असफलता मिली तो भारत की राष्ट्र-भाषा हिन्दी का इस्लामी-अर्थ
आरम्भ किया, उसी का फल ही उर्दू। उर्दू का अर्थ है वह हिन्दी
जिसके मौखिक ढाँचे और व्याकरण को छोड़ शेष सब-कुछ अरबी,
फारसी और इस्लामी है—लिपि, शब्दावलि, और भावावलि तथा
ध्वन्य तः परदेरी है।

बापू की नीति—मुसलमानों की त्रिप प्रवृत्ति ने हिन्दी को उदूँ बना दिया, उगी प्रवृत्ति ने भारतीय राष्ट्रीयता के उदयान-बाग में मुगलिज्म बीज को जन्म दिया। उगने भी पहले इसी प्रवृत्ति ने इस देश में मुसलमानों को मुर्खों टोपी पहनना सिखाया। उदूँ बनाने वाले मुसलमान पहले अकबर को 'इस्लाम' बनाने का स्वप्न देखते थे। अकबर पाशा के पात-इस्लाम के युग में उन्होंने मुर्खों टोपी पहनी। बापू को अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय-मुद्द में जब मुसलमानों का साथ मीथे रहने न मिला तो स्वराज्य के साथ खिलाफत का गठ-बन्धन किया गया। अन्यथा हमारे वे नेता, जो धर्म-मूढक राज्य-व्यवस्था के हतने विरोधी हैं, उन्हें तो धर्म-मूढ मुर्खों की जनता को खलीफा से मुक्ति या एक 'मिश्रयुद्ध स्टेट' की स्थापना करने पर बघाई देनी चाहिए थी, और खिलाफत-मदरा धार्मिक-शासन के पुनः संस्थापन का घोर विरोध करना चाहिए था। परन्तु जैसे भी हो मुसलमानों को अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध अपने साथ मिलाना तो था। यहाँ के आन्दोलन से खिलाफत फिर से जमने वाली नहीं थी। यदि इस मोह में भारतीय मुसलमान कांग्रेस के साथ हो जाते तो यह नीति बुरी नहीं थी।

परन्तु दैव हम पर हँस रहा था। मुसलमान अंगरेज का विरोधी तो नहीं हुआ, परन्तु खिलाफत की जड़ में जो पात-इस्लामी और अमुस्लिम-द्रोही तथा भारत से बाहर बन्धन तोड़ने की प्रवृत्ति थी उसे हमारे ही हाथों पुष्टि मिली। भारत में फिर से इस्लामी-राज्य की स्थापना का स्वप्न देखा जाने लगा। आधे अरबों को मुसलमानों के हवाले कर देने की माँग राष्ट्रीय-मुसलमानों के आदर्श मौलाना मुहम्मद अबी 'कांग्रेस के सभापति के रूप में भाषण देने हुए' की थी। उस राष्ट्रीय-स्वतंत्र मीलाना के मन में भारत की संसति को चापा बँटवा लेने की, वृद्धा इस समय ही थी। मौलाना शौकतअली ने एक प्रतिज्ञा भाषण में युक्त-शान्त से मुसलकी तक मुस्लिम राज्यों की शृंखला के स्वप्न का

वर्षेन गौरव से किया। ये लोग राष्ट्रीय मुसलमान थे। अंगी तो सारे भारत को इस्लामी राज्य बनाना अपना कर्तव्य समझते थे। राष्ट्रीय और अंगी मुसलमानों में जिस वस्तु पर सदा एक मत रहा, और है; वह है उर्दू या एतासरर हिन्दुस्तानी को राष्ट्र-भाषा बनवाना।

अराष्ट्रीय मार्ग—खिलाफत ही की तरफ हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने मुस्लिम-तुष्टि के विचार से फारसी-अरबी-मिश्रित हिन्दी अर्थात् उर्दू का हिन्दुस्तानी नामकरण कर राष्ट्र-भाषा पद के लिए इसे स्वीकार किया। परन्तु जहाँ सबसे यह कहा जाता था कि प्रचलित विदेशी शब्दों का प्रयोग बुरा नहीं है, वहाँ फारसी लिपि को स्वीकार करने की बात किसी प्रकार संगत सिद्ध नहीं हो सकती थी। अतः स्पष्ट मानना पड़ता था कि मुसलमानों को दूसरी लिपि स्वीकृत नहीं है, इसलिए फारसी लिपि रखनी ही होगी। मुसलमानों की यह माँग उतनी ही अराष्ट्रीय थी जितना उनका दो राष्ट्रीयता वाला सिद्धान्त और पाकिस्तान की माँग।

फिर भूल न करें—अब जब कि मुसलमानों का अलग राष्ट्र बन गया और उनकी संस्कृति की प्रतीक उर्दू वहाँ की राष्ट्र-भाषा बन गई, तब भी कुछ लोग फारसी लिपि वाली, अरबी शब्द-संकुल हिन्दुस्तानी को भारत पर थोपने की बात कहते हैं वह भी इसीलिए कि मौलाना आज़ाद के सह-धर्मियों को भारतीय भाषा और लिपि सीखने से इंकार है। यह इंकार आज से नहीं सैकड़ों वर्षों से चला आ रहा है। कुछ दिनों पहले युक्त-यान्त के मुसलमानों को हिन्दुस्तान से भी इंकार था। आज़िरे उन्होंने ही तो पाकिस्तान बनवाया। क्या उनकी इस दो राष्ट्रों वाली नीति पर अवलम्बित भारतीय-राष्ट्रीयता के अस्वीकार करने की प्रवृत्ति को स्वीकार कर हम अपनी राष्ट्रीयता को बल पहुँचायेंगे। खिलाफत के समय ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध मुसलमानों का सहयोग लेने के लिए उस के मूल्य-स्वरूप खिलाफत-आन्दोलन को उठा लेना, नीति-संगत कहा जा सकता था; परन्तु आज जब कि हम भारत में एक स्वतन्त्र लोक-तंत्रीय निर्धर्म-राज्य का निर्माण कर रहे हैं तब एक

भाषा का प्रश्न

(कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त)

आजकल जो अनेक समस्याएँ हमारे देश के सामने उपस्थित हैं उनमें भाषा का प्रश्न भी अपनी विशेष महत्त्व रखता है। इधर पत्र-पत्रिकाओं में किसी-न-किसी रूप में इसकी चर्चा होती रहती है और इस संबंध में अनेक सुझाव भी देखने को मिलते हैं। इस प्रश्न के सभी विवादास्पद पहलू लोगों के सामने आगे हैं और उन पर यथेष्ट प्रकार भी चला जा चुका है।

इस समय हमें अत्यन्त धीरज, साहस तथा सद्भाव से काम करने की आवश्यकता है। भाषा मनुष्य के हृदय की कुंजी है, और किसी भी देश या राष्ट्र के संगठन के लिए एक अत्यन्त सरल साधनों में से है। विश्व-मानवता का मानसिक संगठन भी भाषा ही के आधार पर किया जा सकता है। वह हमारे मन का परिधान वा ज्वाला है। उसके माध्यम से हम अपने विचारों, भावों, सत्य-मिथ्या के भावों तथा अपनी भावनाओं एवं अनुभूतियों को सरलता पूर्वक व्यक्त कर एक दूसरे के मन में बदन करते हैं। भाषा, संस्कृति ही की तरह, कोई स्वभावतः सत्य नहीं, एक संगठित वस्तु है, जो विकास-क्रम द्वारा प्राप्त तथा परिष्कृत होती है। अगर हमारे भीतर भाषा का स्वर संगठित नहीं होता तो हम जो कुछ शब्द ध्वनियों वा लिपि-संकेतों

कमी एक राष्ट्र का अर्थोशा, अर्थात् अग्नि भारतीय-संस्कृति-रिगेय की प्रायः प्रानियों के काय को खोग कर रहे हैं, उनकी मुष्टि के लिए अग्नी राष्ट्रीय संस्कृति की आशा-भूत राष्ट्र-भाषा में अभागतोय लपों का समावेश करना हमारे लिए बहुत बड़ी भूख होगी ।

सांस्कृतिकता से समझौता नहीं—हमें सांस्कृतिकता की ओर उखाड़ फेंकनी है । उर्दू भाषा सांस्कृतिकता का रूप है । उसके साथ समझौता रिशुम्भावी है । जो चाहता है कि सांस्कृतिकता हम देश में उठ जाए, वह उसमें समझौता नहीं कर सकता । भारतीय मुसलमानों को हमें परिश्रम के रूप में देखने का आशय अत्यन्त 'पॉजिटिव कावम' नहीं रहने देना है । हमें उसे अपने ही जैसा पूर्ण भारतीय बनाना है । ऐसा यह तभी बनेगा जब वह हिन्दी को स्वीकार कर लेगा ।

अतः मेरी दृष्टि में हिन्दी और हिन्दुस्तानी का अरत केन्द्र भाषा का अरत नहीं है, अत्युत देश-द्रोही-सांस्कृतिकता को दहना-पूर्वक उखाड़ फेंकने अथवा दुर्बलता-पूर्वक उसके सामने फिर मुकाने का अरत है । भारतीय-संघ में जिनका देश आठ समाविष्ट है वह अनेक नहीं, एक है, अथवा होना चाहिए । भारत का मुसलमान भारतीय बनना जला चाहिए, उसकी भावनाएं भारतीय हो जानी चाहिए, उसे भारत का सब-कुछ अपना खगना चाहिए । उसका मुसल अरत के रेगिस्तान से हटकर भारत की शस्य-अयामका भूमि की ओर निकलना चाहिए । उसे अरबी के शब्द छोड़ संस्कृत के शब्द सीखने चाहिए । उसे अर्ध अभातीय लिपियाँ छोड़ देवनागरी लिपि सीखनी चाहिए । यदि वह दृष्टा-पूर्वक ऐसा नहीं करता तो उसकी अविष्या रहने हुए भी राष्ट्रीय-अभागतोय के अर्थ में एक अभागतोय की अभागतोय । अभागतोय छोड़ कर हमें सब-

भाषा के साथ राष्ट्र-भाषा के वातावरण में भी बढ़ेगी और उसे भी-
आसानी में सीख लेंगी।

आज तक हम साठ समुद्र पार की विदेशी भाषा को तोते की-
तरह रटकर साधर तथा शिचित होने का अभिमान ढोते गए हैं।
तब प्रांतीय भाषाओं के जीवन का प्रश्न हमारे मन में नहीं उठता था।
आज जब राज-काज में अंग्रेजी का स्थान हिन्दी ग्रहण करने जा रही है
तब प्रांतीय भाषा-भाषियों का विरोध हठधर्मी की सचद पर पहुँच
गया है। धार्मिक सांप्रदायिकता के जाल से मुक्त होकर अब हम भाषा-
संबन्धी सांप्रदायिकता की दृढदृढ़ में डूबने जा रहे हैं!

सौभाग्यवश हमारी सभी प्रांतीय भाषाओं की जननी संस्कृत
भाषा रही है। दक्षिणी भाषाओं में भी संस्कृत के शब्दों का प्रचुर
मात्रा में प्रयोग बढ़ने लगा है। उत्तर भारत की भाषाएँ तो विशेष
रूप से संस्कृत के सौष्ठव, ध्वनि-सौन्दर्य, तथा उसकी चेतना के प्रकाश
से अनुप्राणित तथा जीवित हैं। अगर हम अपनी हठधर्मी से छुट
सकें तो मुझे कोई कारण नहीं दीखता कि क्यों हम आज हिन्दी को
राष्ट्र-भाषा के रूप में एकमत होकर स्वीकार न कर सकें। अन्य प्रांतीय
भाषाओं की तुलना में राशि (जनसंख्या) तथा गुण्य (सरलता,
सुशोधता, उच्चारण-सुविधा आदि) की दृष्टि से भी हिन्दी का स्थान
विशेष महत्वपूर्ण तथा प्रमुख है।

- हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी का प्रश्न हमसे कुछ अधिक जटिल
तथा विवादपूर्ण है। एक तो दोनों की जनक-भाषाएँ आर्य-भिन्न
हैं। हिन्दी संस्कृत की संतान है। उर्दू-फारसी और अरबी की। फिर
अभी हम दुर्भाग्यवश जिस प्रकार हिन्दू और मुस्लिम संप्रदायों में
विभक्त हैं, हमारे सांस्कृतिक, दृष्टिकोणों में भी सामंजस्य स्थापित
नहीं हो पाया है। फलतः हिन्दी और उर्दू को भी हम दो विभिन्न
संस्कृति की चेतनाओं तथा उपादानों की वादक मानने लगे हैं। पर
यह पुरानी दुनिया का इतिहास है। संसार में आज सभी जातियों,

वर्गों, समूहों या संघदायों में धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि अनेक प्रकार की विरोधी शक्तियों का संघर्ष को मिश्रता है जो आगे चल कर आने वाली दुनिया में अधिक सामंजस्य प्रदूषण कर सकेगा और मनुष्य को मनुष्य के अधिक ज्ञेय शायदा। भिन्न-भिन्न समूहों की अंतर्ध्वंसता के संघर्षों में ही सद्भाव तथा एकता स्थापित हो जायगी। इसे अनिवार्य अवस्थाकारी समझना चाहिये।

हमें हिन्दी उर्दू को एक ही भाषा के—उसे आर युक्तियों भाषा कह लें—दो रूप मानने चाहिये। दोनों एक ही जगह पृथक् पृथक् हैं। दोनों के व्याकरण में, वाक्यों के गठन, संयोजन में तथा प्रवाह आदि में पर्याप्त साम्य है—यद्यपि उनके ध्वनि-सौन्दर्य विभिन्नता भी है। साहित्यिक हिन्दी तथा साहित्यिक उर्दू एक भाषा की दो ओटियाँ हैं, जिनमें से एक अपने निवार में संस्कृत-प्रधान हो गई है, दूसरी फारसी-अरबी प्रधान। और उनका बीच का बोल-बाल का स्वर ऐसा है जिसमें दोनों भाषाओं का प्रवाह मिलकर एक हो जाता है। हिन्दी-उर्दू के एक होने में बाधक वे भीतरी शक्तियाँ हैं जो आज हमारे धार्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक आदि संकीर्णताओं के रूप में हमें विध्वंस कर रही हैं। भविष्य में हमारे राष्ट्रीय निर्माण में जो सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक शक्तियाँ काम करेंगी वह बहुत दूर तक इन विरोधों को मिटाकर दोनों संघदायों को अधिक उन्नत और व्यापक मनुष्यत्व में बाँध देंगी। मातृकी कारण नहीं रहेंगे बाधक बल्यु हो जायेंगे।

इस समय हमारा ध्यान मानव-प्रवास इस दिशा में केवल इतना ही हो सकता है कि हम दोनों भाषाओं को मिश्राने के लिए एक वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सकें। यह आधार हम समय-समय पर ही हो सकता है—और यह ही भागी विधि। भाषा की

कविवर भी मुमिशानन्दन पन्त

स्वीकार कर उसका प्रचार करना चाहिए। यही नीति हमारे शिक्षा-
केन्द्रों की भी होनी चाहिए। हमें इस समय भाषा के प्रश्न को बल-
पूर्वक सुलझाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। केवल लिपि के आधार
पर जोर देना चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि नागरी
लिपि उर्दू से ही नहीं, संसार की सभी लिपियों से शायद अधिक
सरल, सुबोध तथा वैज्ञानिक है और इसमें समयानुकूल छोटे-मोटे
परिवर्तन आसानी से हो सकते हैं।

भाषा का स्वयं जीवन लिपि का आधार पाकर अपनी रक्षा अपने-
आप कर सकेगा। उसे आने वाली पीढ़ियाँ अपने जीवन के रक्त से,
अपनी प्रीति के आनंद से तथा स्वप्नों के सौन्दर्य से सामंजस्य प्रदान
कर सकेंगी। यह मंडल अधिक स्वाभाविक नियमों से संचालित होगा।
आज हम बलपूर्वक हिन्दुस्तानी के रूप में कृत्रिम और कुरूप प्रयत्न
दोनों को मिटाने का कर रहे हैं। यह हमें कहीं नहीं ले जायगा।
क्योंकि ऐसे सचेष्ट प्रयत्न किन्हीं आंतरिक नियमों के आधार पर ही
सफल हो सकते हैं। ऐसे बाहरी यत्नों से हम भाषा का
व्यक्तित्व, उसका सौष्टव तथा सौन्दर्य बनाने के बदले बिगाड़ ही देंगे।
भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों की भाषाओं के जीवन को सामने रखते
हुए मैं सोचता हूँ कि हिन्दी-उर्दू का मेल संस्कृत के ध्वनि-सौन्दर्य,
रवि-सौष्टव तथा व्यक्तित्व के आधार पर ही सफल हो सकेगा। किन्तु
सचेष्ट प्रयत्नों के अज्ञात भाषा का अपना भी जीवन होता है और आने
वाली पीढ़ियाँ नवीन विकसित परिस्थितियों के आलोक में भाषा को
किस प्रकार सँवारेंगी, यह अभी किसी गणित के नियम से नहीं
बतलाया जा सकता।



हमारी भाषा और लिपि की समस्या

(प्रो० ललिताप्रसाद मुखर्जी)

प्रश्न उठता है कि हमारी भाषा और लिपि का प्रश्न मात्र इतना उग्र क्यों हो उठा है ? पग-पग पर आदर्शपूर्ण महारमा जी का नाम इस द्वन्द्व के साथ जुड़ा देखकर तो आश्चर्य की सीमा नहीं रहती । भारत की एकता आज खतरे में हो सकती है, परन्तु युगों से यह अनुप्राण थी, इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता । इतने बड़े देश के विशाल जन-समूह को युगों तक यदि संस्कृत भाषा ने एक सूत्र में बाँधकर रखा था, तो उसके बाद अन्य देशी भाषाओं ने भी अपनी-अपनी सीमाओं में अपने उत्तरदायित्व का समुचित निर्वाह किया था । उत्तर और दक्षिण की भाषाओं में 'कुल-भेद' होते हुए भी संस्कृत के परम्परागत प्रभाव ने उन्हें एक दूसरे से बहुत दूर नहीं होने दिया था । सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकता के कारण आज से सदियों पहले भी भारतीयों का अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध कम घनिष्ठ न था । उस समय भी पारस्परिक व्यवहार के लिए मध्य-उत्तर-भारत की प्रचलित भाषा ही काम में लाई जाती थी । इसका प्रमाण आज से लगभग ३०० वर्ष प्राचीन कागज़-पत्रों से चला सकता है, जो आज भी जगन्नाथपुरी तथा रामेश्वर के कुछ पदों के पास सुरक्षित हैं । यदि उस समय धार्मिक अथवा व्यावसायिक कार्यों से हमें अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध स्थापित

धरने के लिए एक चालू भाषा की आवश्यकता पड़ी थी, तो आज प्रथम
 नतः राष्ट्रीय सन्देश के प्रचार एवं विस्तार के लिए देश-व्यापिनी साधारण
 भाषा की आवश्यकता आ पड़ी है। भेद हटना ही है कि आज का
 साधारण राजनीति, कृत्नीति इत्यादि विविध मत-मतान्तरों के विषय-
 वायु-मयदल से दूषित है। किन्तु उस समय के लोगों की भावना अधिक
 पवित्र थी। प्रत्येक वस्तु का ग्रहण अथवा त्याग उसकी न्यायोचित
 उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता पर निर्भर हुआ करता था।

भाषा बनाम धर्म—आज की भाषा-विषयक समस्या साम्प्रदायिक
 पक्षपातों के कारण और अधिक जटिल हो उठी है। आज प्रायः धर्म
 और संस्कृति की आड़ लेकर ही भाषा के प्रश्न पर विचार किया जाता
 है। भारतवर्ष सदा से धर्म-प्रधान देश रहा है। प्राचीन संस्कृति का
 प्रतिष्ठा यहाँ के जीवन की विशेषता रही है। देश के अन्य नेता धर्म
 के प्रश्न से उदासीन रह सकते हैं; परन्तु भद्रेश्वर महाराम जी के जीवन
 में सदा सदा से ही प्रमुख रहा है। भाषा और लिपि ही क्या, शायद
 राष्ट्रीय उद्योग के किसी पग पर भी उन्होंने धार्मिक चेतना को गौण नहीं
 होने दिया। इस दृष्टिकोण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु धर्म
 के साथ उर्दू या हिन्दी को अनिवार्य रूप से जोड़ना कहीं एक न्याय
 संगत है, यह प्रश्न विचारणीय है।

सैकड़ों वर्षों से भारत के एक बड़े जन-समुदाय की विचार-धारा
 हिन्दी में ही प्रवाहित हुई है। मध्य-युग की सूफ़ी, तुलसी और कबी
 जैसे महारामों की वाणी धार्मिक उपदेश ही है तथा उनकी पूजा भी
 उसी प्रकार होती है, फिर भी हिन्दुओं की धार्मिक भाषा का पद आज भी
 देववाणी संस्कृत के द्वारा ही सुरोभित है। सभी पुण्य कार्यों के अर्थ
 सर पर मन्त्रोच्चारण संस्कृत में ही होता है ! इसी प्रकार मुसलमान
 के धार्मिक ग्रन्थ भी सब अनिवार्य रूप से अरबी में ही हैं और उन
 सभी धार्मिक कृत्यों का प्रतिपादन अरबी के ही माध्यम से होता है।
 कुछ ही वर्षों पहले अरबी में लिखे गए कुरआन का उर्दू में अनुम

करना भी कुप्र से कम न था। हिन्दी में तो संस्कृत का प्राचीन साहित्य क्या धार्मिक और क्या अन्य—प्रायः सभी आ चुका है, किन्तु उर्दू तो आज भी इस्लाम के क्षेत्र में पूर्ण प्रवेश नहीं पा सकी है। काव्य-प्रधान उर्दू का साहित्य विचार-सम्पत्ता, काव्य-प्रणाली, एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लिए अरबी की अपेक्षा फ़ारसी का अधिक अच्छी है। आज के कुछ अनुवादों को छोड़कर प्रायः सारा उर्दू-साहित्य दर्शन अथवा अध्यात्म की अपेक्षा बुद्धिवाद से ही प्रेरित है। किन्तु धर्म का मूल तो तर्क नहीं, विश्वास है। अतः उर्दू-भाषा या साहित्य के दामन में धर्म को या इस्लामी संस्कृति को बाँधना या हिन्दी के साथ हिन्दू धर्म का गठ बन्धन करना उचित नहीं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धर्म एवं संस्कृति की सात्विक भावना तो सुरक्षित रहनी ही चाहिए। न केवल हिन्दू या मुसलमानों ही के लिए, धरन् अन्य सम्प्रदायों के लिए भी इसी नीति का अनुसरण होना चाहिए। राष्ट्र के मन्त्रिनिर्माण में अनिवार्य शिक्षा का नियम ही होगा ही। उपयुक्त उद्देश्य की वास्तविक पूर्ति के लिए यह आवश्यक होगा कि प्रारम्भिक शिक्षा-क्रम में ही हिन्दू बालकों के लिए प्राथमिक संस्कृत, मुसलमान बच्चों के लिए उनके धर्म-ग्रन्थों की भाषा का प्राथमिक ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाय। देना करने से धाने चलकर अरबी-अपनी दधि के अनुसार ये बालक हल और बर सँकेते, क्योंकि धार्मिक अथवा सांस्कृतिक संस्थाओं का बीजारोपण तो हो ही मुझेता। इस प्रस्ताव में शायद किमो को दक्षिणान्तीयन की वृत्त, परन्तु देमों के लिए तो शायद धर्म की बर्षा भी दक्षिणान्तीयन से सारी नहीं। यदि बच्चों में धार्मिक प्रवृत्ति रखनी बाँझनीय है, तब तो उपयुक्त प्रस्ताव के अतिरिक्त और कोई व्यावहारिक निरापद मार्ग नहीं, क्योंकि हम प्रसार राष्ट्र के बच्चों में विविध धर्मों एवं संस्कृतियों के संस्कार तो प्राप्त होंगे ही, साथ-ही-साथ विविध मूल-भाषाओं का परिचय

उनके दार्शनिक भाषा-ज्ञान की भोज को भी अपिक सुदृढ करेगा । ए
 वरह भारत के अनावरणक संशय भी दूर हो जायेंगे ।

राष्ट्र-भाषा का स्वरूप—भाषा से बीस वर्ष पहले राष्ट्रीय सं
 इन के लिए राष्ट्र-भाषा की उपयोगिता के विचार काँग्रेस के द्वारा हिन्द
 को राष्ट्र-भाषा माना गया था । इसके प्रचार तथा प्रसार में महात्माजी
 का बहुत बड़ा योग रहा है । शायद कोई भी ईमानदार व्यक्ति यह
 कह सकेगा कि भाषा के पीछे किसी प्रकार के दृढ अथवा पक्षपात का
 सेंस भी न था । क्योंकि इसके प्रधान पुरुष-पोषक थे महात्माजी, जिनका
 मातृ-भाषा थी गुजराती । अतः हिन्दी के प्रति उनके पक्षपात या अ
 पित मोह का तो प्रश्न ही नहीं उठता । किंतु ज्यों-ज्यों स्वाधीनता
 के युद्ध में गरमाहट आने लगी तथा स्वतन्त्रता के मन्दिर का शिखर
 —दूर से ही सही—दीख पड़ने लगा, त्यों-त्यों कितने ही निठल्ले स
 अगाध शहीद बनने वाले व्यक्ति भी काँग्रेस के पक्ष के ईर्ष्या-मि
 श्रण कर कारने लगे । अकाङ्क्ष पंक्तियों में जाना तो जेल के सठरे
 खाकी नहीं था, इसलिए तथाकथित रचनात्मक कार्यक्रम की छोटी
 अपना उदर हीना करना और भाषा जैसे अगम्य निर्विवाद मसलों पर
 प्रतियोगिता करना ही इन लोगों का पेशा हो गया । ऐसे ही हिन्दी
 अनभिज्ञ और उद्वेग से कोरे कुछ व्यक्तियों ने अगस्त १२-१६ वर्ष प
 कहीं की ईंट और कहीं के गारे से हिन्दुस्तानी भाषा बनाने के लि
 एक संस्था गढ़कर अपनी 'भारतवर्ष के कुम्भट' का परिचय दिया या
 सच पूछा जाय तो भाषा की इसी नाम की दुरंगी भाषा के विचार
 हमी संस्था के कर्णधार हैं । उन्होंने इसलिए ऐसा नहीं किया कि
 राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में उनका भाषा-विषयक यह कोई विचार
 प्रयोग था, वरन् इसीलिए कि यही एक मसला और यही एक भा
 उनके पहले पकी थी और महात्माजी के शब्दों में 'दिमागी तौर पर
 बहुत सुस्त' शायद थे ही, 'लेकिन अंगरेजी के लोक ने इनकी मानसि
 शक्ति को बहुत पंगु बना दिया था' । नए सिरे से यह था वह भा

था। किन्तु आगे चलकर डा० सुनीलकुमार चाटुर्ज्या ने एक प्राचीन म्याकरण के आधार पर सिद्ध किया कि उर्दू-मिथित उत्तर-भारतीय भाषा के लिए 'हिन्दुस्तानी' का प्रयोग पोर्चुगीजों ने किया था। किन्तु इससे भी पहले सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चाबर ने अपने जीवन-चरित्र में 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग देश की चालू भाषा के अर्थ में किया था। उस समय तो उर्दू का जन्म भी नहीं हुआ था। यह स्पष्ट है कि प्राचीन समय में भी प्रचलित हिन्दी के लिए 'हिन्दुस्तानी' नामक प्रयोग होता था और उसमें फारसी या अरबी या अन्य विदेशी शब्दों की मिजावट की शर्त नहीं थी।

एक बार गान्धी जी ने कहा था—“बहुत अर्सा नहीं हुआ, उत्तर-भारत के लोगों की भाषा एक ही थी। वह उर्दू और देवनागरी लिपियों में लिखी जाती थी।” ग्रामीण जनता बड़े-बड़े शब्दों की, चाहे वे फारसी से लिये गए हों चाहे संस्कृत से, परवाह नहीं करती। “‘बह (ग्रामीण जनता) जो भाषा बोलती है, केवल वही भारत की राष्ट्र-भाषा हो सकती है कि वह उसे सीखे।” महात्माजी के इस कथन से काफी हलचल मची। लोगों ने सन्देह प्रकट किया कि ‘समूची या केवल उत्तर-भारत की ही सारी ग्रामीण जनता’ कोई एक भाषा नहीं बोलती और न ग्रामीणों की भाषा या भाषाएँ इतनी समुन्नत हैं कि उनके आधार पर राष्ट्र-भाषा बनाई जा सके। पर यदि जरा गम्भीरता से विचार किया जाय, तो ये आशंकाएँ अपने-आप मिट जाती हैं। साधारण व्यवहार में ‘भाषा’ और ‘बोली’ शब्दों का प्रयोग कुछ अनियमित-सा ही किया जाता है। अधिकतर तो इसके भेद को ठीक-ठीक जानते भी नहीं। यदि यह भेद स्पष्ट कर दिया जाय, तो गांधीजी के उपर्युक्त कथन की आधी सत्यता अपने-आप प्रमाणित हो जाती है। यदि सिद्धान्त रूप से देखा जाय, तो भाषा बहुत अधिक व्यापक संज्ञा है, जिससे समान-रूप वाली विविध बोलियों के समूह का ज्ञान होता है—अर्थात् प्रत्येक भाषा का संगठन समान-रूप वाली कई

बोलियों तथा उपबोलियों को लेकर ही होता है। समान-रूपता के प्रधानतः तीन आधार होते हैं—शब्द-अग्न्यन तथा उच्चारण। जिन बोलियों में इन तीनों अंगों की उचित समानता दीख पड़ती है; वे स्वभावतया एक समूह के रूप में संगठित हो जाती हैं। इसी समूह को भाषा की सत्ता दी जाती है।

इस दृष्टिकोण से समझने में देर न खगेगी कि उत्तर-भारत की ग्रामीण जनता सचमुच एक ही भाषा-सूत्र में बँधी हुई है। बोलियों विविध एवं विभिन्न अवश्य हैं, किन्तु सामूहिक रूप से एक ही भाषा के सूत्र से गुँथी हुई हैं। यही कारण है कि ब्रज-मण्डल या राजपूताने का निवासी भवधी के क्षेत्र में जाकर भी अपनी बात कहने में या दूसरे की समझने में विरोध कठिनाई का अनुभव नहीं करता। भले ही वह भवधी बोली में बोल न सके, या भवधी वाला ब्रज-मण्डल की बोली में बोलने में असमर्थ हो; परन्तु उनका पारस्परिक विचारों का आदान-प्रदान सुगमता से हो जाता है। इसी व्यावहारिक तत्त्व के आधार पर हिन्दी को भाषा कहा जाता है, क्योंकि उसमें भवधी, ब्रजभाषा, राजस्थानी, बाघेली, बुन्देली इत्यादि इतनी ही बोलियों सम्मिलित हैं। उर्दू भी उसी के अन्तर्गत एक बोली ही है, क्योंकि इसका अपना कोई शृण्क् बोली-समूह नहीं है। इसी से बते हिन्दी की एक शैली एवं बोली कहा गया है और फिर, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, 'बोली' और 'भाषा' का पारस्परिक अद्भुत सम्बन्ध है। भाषा से किसी विशिष्ट आदर और बोली से निरादर की सूचना की आसंका करना अनाशयक अम है। हिन्दी और उर्दू के इसी सम्बन्ध के आधार पर तो राष्ट्र-भाषा की भिन्न नहीं है। शब्द-मण्डल, शब्द-अग्न्यन एवं उच्चारण की समानता इस आधार का बड़ा बल है।

अब प्रश्न आता है कि इन विविध बोलियों की अनुमन्य अवस्था। यह शंका भी निराकार है, क्योंकि आज तो राष्ट्र की एक साधा-

रण भाषा की आवश्यकता है; प्रधानतः अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमय के लिए, राष्ट्र-सन्देश के प्रचार और प्रसार के लिए। विविध प्रान्तीय भाषाओं के शुष्क अस्तित्व को न होने की नीति का अन्तिमार्थ ही यह था कि उच्चकोटि के साहित्य की रचना मनुष्य अपनी मातृ-भाषा में ही कर सकता है; अतः उस और सबको समान अवसर मिलना ही चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र-भाषा से तात्पर्य एक प्रकार की 'सरकारी भाषा' से ही है। निःसन्देह ऐसी भाषा का सफ़ल संगठन प्रचलित बोलियों के आधार पर ही हो सकता है। लेकिन इस प्रकार से संगठित हमारे राष्ट्र की 'सरकारी भाषा' की रूपरेखा भी निरिषय होनी ही चाहिए।

लिपि की समस्या—अब प्रश्न है लिपि का। जातीय शिष्टा में लिपि का प्रश्न कम महत्वपूर्ण नहीं है, और विशेषकर जब कि इसके साथ ही धर्म और संस्कृति का अस्तित्व जुड़ा हो। इस और सारी कसौटी से वैज्ञानिकता की ही होनी चाहिए; किन्तु वर्तमान वातावरण उसके प्रतिद्वन्द्व ज्ञान पक्का है। फिर इस सम्बन्ध में तो एक तरह से निर्णय भी हो चुका है कि भारतीय राष्ट्र देवनागरी तथा फारसी दोनों लिपियों को समान रूप से स्वीकार करता है और प्रत्येक सरकारी कार्यवाही दोनों ही लिपियों में सुलभ होगी। और शब्द-कोष की एकता का स्वाभाविक विष्कर्ष ही यह होगा कि दोनों लिपियों में इतना एक ही होगी। यही उचित भी है।

लेकिन अब प्रत्येक व्यक्ति क लिपि दोनों लिपियों का जानना क्यों अनिवार्य होना चाहिए? अब इतना एक ही होगी, तब क्या एक लिपि के जानने से काम न चलेगा? दोनों लिपियों के जानने का आग्रह तो कुछ ऐसा ही है, जैसे कि विख्यात वैज्ञानिक न्यूटन के विषय में प्रसिद्ध है। उसकी एक बिल्ली थी, जिसे वे बहुत अधिक प्यार करते थे। बिल्ली ने बच्चे दिये और प्राकृतिक विषमालुता कभी-कभी वह उन बच्चों को बाहर भी उठा ले जाती थी। वापस

घाने का उमड़ा कोई निरिचन समय नहीं था। बन्द-बन्द बाघ यह धीरे बच्चे बन्द दरवाजा खोलने की चेष्टा किया करते थे। अतएव उनही सुबिधा तथा अपनी शान्ति के विचार से स्पूटन ने दरवाजे में छेद बनवाने का निरूपण किया। बर्दों को बुझवाकर उन्होंने कहा कि दरवाजे में दो छेद बनाओ—एक छोटा धीरे एक बड़ा, ताकि बड़े छेद से बड़ी बिल्ली भीतर आ सके और छोटे-से-छोटे बच्चे। बर्दों हम आदेश से असमंजस में पढ़ गया और डरते-डरते उमने पूछा—‘क्या बड़े छेद से छोटे बच्चे भी अन्दर नहीं आ सकेंगे ?’ यह सुनते ही स्पूटन को अपनी मूर्ख श्राव हुई और जोर से हँसते हुए उन्होंने कहा—‘भार, तुम ठीक ही कहते हो। एक से ही काम चल जायगा।’

महान् शक्तियों की मूर्ख भी असाधारण ही दुःखा करती हैं।

: २६ :

हमारी भाषा

(प्रो० इंसराज अग्रवाल)

यह हिन्द का दुर्भाग्य है कि 'हमारी भाषा' के प्रश्न ने भी यहाँ पर जटिल रूप धारण कर रखा है। यदि कोई जापान, इंग्लैण्ड, फ्रांस अथवा रूस आदि देशों में इस प्रकार का विषय लेकर अपनी लेखनी को उदाये तो पाठक उसकी बुद्धिमत्ता का उपहास उदायेंगे, और यहाँ का लेखक लिखेगा भी क्या ? क्योंकि यह स्पष्ट ही है कि जापान की भाषा जापानी, इंग्लैण्ड की अंगरेज़ी, फ्रांस की फ्रांसीसी और रूस की रूसी है। किसी को इसमें मतभेद नहीं है; परन्तु अंगरेज़ी सरकार की नीति ने हिन्द में इस प्रश्न को जटिल-से-जटिलतर और जटिलतर-से-जटिलतर बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। "मर्जे बढ़ता गया ज्यों-उषों दया की"। सैकड़ों नहीं हजारों पृष्ठ इस विषय पर पुस्तक-पुस्तिकाओं, पत्र-पत्रिकाओं में लिखे जा चुके हैं; तो भी अनेक कारणों से, इस विषय की नवीनता उसी प्रकार बनी हुई है। इन कारणों के पीछे भी एक इतिहास है।

एक समय था, जब भारत में संस्कृत-बाषो बोलੀ जाती थी। शनैः-शनैः उसका स्थान अलग-अलग प्रांतों में अलग-अलग प्राकृतों ने ले लिया। प्राकृतों का स्थान शनैः-शनैः देशी भाषाओं ने ले लिया। प्राचीन काल में हम मध्य-श्राव्य की वर्तमान भाषा की 'भाषा' कहकर

पुछाते थे। 'भाषा' का साधारण अर्थ है "भाष बोझी जाने वाली।" मुसलमानों ने उस समय जब भाषा को "हिन्दवी" और "हिन्दी" का नाम दिया और हिन्दुओं ने वही उदात्ता से उमी नाम को स्वीकार कर लिया। राजनीतिक क्षेत्र में, हिन्दू-मुसलमानों में चाहे घोर विरोध रहा हो, पर साहित्य-क्षेत्र में हिन्दू-मुसलमानों में वास्तविक एकता थी। धार सौ से अधिक मुसलमान कवियों और लेखकों ने हिन्दी को प्रथम-नीय सेवा की है। हिन्दी-साहित्य का कोई भी विद्यार्थी मुसलमानों की हिन्दी-सेवा की उपेक्षा नहीं कर सकता। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने तो यहाँ तक लिखा है कि इन मुसलमान कवियों पर छात्रों हिन्दुओं को न्योझावर किया जा सकता है। हिन्दी उस समय हिन्दू की राष्ट्र-भाषा थी। हिन्दुओं और मुसलमानों को—सबको इस पर गर्व था।

परिस्थितियाँ बदलीं। पराधीन भारत पर लार्ड मैकाले की शिष्टा-नीति का जादू चला। "भेद डालकर राज्य करो (Divide and-rule)" की नीति के अनुसार साम्प्रदायिकता के विपक्षे धीज-वपन किये गए। बट-बृष के धीज की भाँति यह धारों दिशाओं में खूब फल-हूला। परिणाम-स्वरूप भाषा का क्षेत्र भी इसके मर्कट प्रभाव से बच न सका।

ध्यान देने की बात है कि भाषा का सम्बन्ध देश और प्रान्त से दूषा करता न कि जाति-विरोध से। सब बंगालियों की प्रांतीय भाषा बंगाली है, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान। सब गुजरातियों की प्रांतीय भाषा गुजराती है, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान। इन्हीं कारण सब मराठों की प्रांतीय भाषा मराठी है, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान। इस सिद्धान्त के निर्विवाद होने पर राजनीतिक कारणों से यह प्रचार किया गया कि सब मुसलमानों की अपनी भाषा उर्दू है, और हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है। भोले-भाजे मुसलमानों को यह बचने की फुरसत कहीं थी कि हिन्दू से बाहर भी सब मुसलमानों की भाषा एक नहीं है। फारस में फारसी, अरब में अरबी, तुर्किस्तान में

गुर्कों और अफ़ग़ानिस्तान में अफ़ग़ानी आदि भाषाएँ बोलते हैं। हिन्द की भाषा को स्वयं मुसलमानों ने (सबसे पहले सुसरो और जापली ने) हिन्दी का नाम दिया और अब तक वे इसी भाषा को बोलते आये। परन्तु साम्प्रदायिकता के विपरीत प्रभाव के कारण बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, यहाँ तक कि दूर-दक्षिण तक के मुसलमानों ने यही कहना आरम्भ किया कि 'हमारी भाषा उर्दू है', चाहे उर्दू का 'काज़ा अक्षर उनके लिए भैंस बराबर' ही क्यों न हो ?

बात स्पष्ट है, जिस प्रकार अरब की भाषा अरबी, फ़ारस की फ़ारसी और जापान की भाषा जापानी कहलाती है, उसी प्रकार हिन्द की भाषा का वास्तविक नाम "हिन्दी" ही हो सकता है। इतिहास बतलाता है कि हमारी भाषा को "हिन्दी" का नाम दिया भी मुसलमानों ने है। यह सब-कुछ होते हुए भी हमारे राष्ट्रवादी नेता साम्प्रदायिकता की लहर में बह गए और मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने प्रचार आरम्भ किया कि 'हिन्द की राष्ट्र-भाषा व संस्कृत-मिश्रित हिन्दी है, न अरबी-फ़ारसी-मिश्रित उर्दू'। यह तो सरल हिन्दुस्तानी है, जिसमें सरल हिन्दी और सरल उर्दू के शब्द पाये जाते हैं और जिसे सब भारतीय आसानी से समझ सकते हैं।

हिन्द की भाषा 'हिन्दी' का यह नाम-संस्कार क्यों ? क्या हिन्दुस्तानी नाम अधिक सरल है ? तो फिर अफ़ग़ानिस्तान वाले अपनी भाषा को अफ़ग़ानिस्तानी और बिलोचिस्तान वाले अपनी भाषा को बिलोचिस्तानी क्यों नहीं कहते ? क्या किसी हिन्दी-भाषी ने कभी यह कहा है कि "हमारी राष्ट्र-भाषा का आदर्श मिश्रित संस्कृत-मिश्रित हिन्दी है।" हिन्दी-जगत् तो मुन्शी प्रेमचन्द जी की हिन्दी को आदर्श की दृष्टि से देखता है। मुन्शी प्रेमचन्द की हिन्दी आज इण्डिया रेडियो से मजे की सरल हो, परन्तु हमारे आज-इण्डियानेटिवो की तो अपनी भाषा को हिन्दुस्तानी कहने में ही आनन्द आता है।

जापानी, रूसी, फारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग, जब कि इनके स्थान पर हिन्दी के सरल शब्द विद्यमान हैं; नितान्त हानिकर है।

“विदेशी भाषाओं का जितना अंश हमारी भाषा में शेष रहेगा, उतना ही हमारी संस्कृति के लिए घातक होगा।” हमारे मान्य-नेताओं को इस पर भली प्रकार विचार कर इमें सम्मार्ग दिखाना चाहिए और वह भी साहस के साथ।

पंजाब की समस्या—कुछ शब्द पंजाब की समस्या के विषय में भी। संयुक्त-पंजाब प्रान्त में कुल २६ जिले थे, जिनमें अम्बाला दिवीजन के सारे जिले तथा कांगड़ा और गुरदासपुर के पहाड़ी-प्रदेश हिन्दी-भाषी थे। तथा शेष २१-२२ जिले पंजाबी-भाषा। उस समय पंजाब को प्रांतीय भाषा उद्घु^१ थी। पंजाबी-भाषियों तथा हिन्दी-भाषियों की ओर से अनेक आंदोलन होने पर भी हिन्दी-पंजाबी की समानता का अधिकार प्राप्त न हो सका। पंजाब के बटवारे के बाद परिस्थिति सर्वथा बदल गई। पूर्वी-पंजाब के १२ जिलों में ७ जिले हिन्दी-भाषी हैं और केवल ६ जिले पंजाबी-भाषी। जैसे हिन्दी-भाषी जिलों में पंजाबी बोलने वाले भी काफ़ी संख्या में हैं, ऐसे ही पंजाबी-भाषी जिलों में हिन्दी बोलने वालों की संख्या बहुत है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी और पंजाबी में पारस्परिक विरोध नहीं है। दोनों संस्कृत की पुत्रियाँ हैं और उनमें आपस में बहनों-जैसा प्रेम होना ही चाहिए। गुरु नानक तथा गुरु गोविन्दसिंह जी की वाणी को पंजाबी-भाषी बड़ी धृष्टा और भक्ति से पढ़ते हैं तथा हिन्दी-काव्य में उसे विशेष आदर का स्थान देते हैं जो इन बहनों को आपस में बहना अथवा इनमें फूट डकड़ाना चाहते हैं, उनकी इसमें कोई शूनीति है, यह हमें भली प्रकार समझ लेना चाहिए। हिन्दी और पंजाबी का खोटा एक ही होने के कारण इनकी संज्ञाएँ, सर्वनाम, विशेषण तथा अनेक क्रियाएँ आपस में मिलती हैं, बल्कि समान ही हैं। ऐसी अवस्था में स्थिति

स्पष्ट है कि पंजाब में प्रारम्भिक शिक्षा हिन्दी अथवा पंजाबी में बाज़कों के इच्छानुसार हो। औपरो-प्राचीनी श्रेणी से प्रत्येक विद्यार्थी के लिए दूसरी भाषा का पढ़ना भी आवश्यक हो। प्रत्येक सरकारी नौकर के लिए हिन्दी और पंजाबी दोनों भाषाओं का ज्ञानना आवश्यक हो और कचहरियों तथा दफ्तरों में सबको दोनों भाषाओं के व्यवहार की सुविधा हो।

पंजाब-विरवविद्यालय ने पंजाबी-भाषा को सर्व-प्रिय बनाने के लिए परीक्षार्थियों को यह सुविधा दी थी कि वे अपने उत्तर गुरुमुखी, फारसी अथवा देवनागरी, किसी भी लिपि में लिख सकते थे। अनुभव से यह सिद्ध हुआ है कि पंजाबी के प्रचार में इस सुविधा से बड़ा लाभ पहुँचा है। तदनुसार प्रारम्भिक श्रेणियों के छात्रों को यह सुविधा होनी चाहिए कि वे नागरी अथवा गुरुमुखी लिपि को इच्छानुसार अपना सकें। पंजाब-निवासियों को उचित है कि वे इस प्रश्न पर शुद्ध-सात्विक दृष्टिकोण से, शान्ति-पूर्वक विचार करें, जिसमें कि हमारा प्रान्त दूसरे प्रान्तों के मुकाबले में गर्व के साथ अपना 'मस्तक' उन्नत कर सके। इसमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता की कटुता या जाने से तो हमारी हानि-हो-हानि है। प्रभु हमें सद्-बुद्धि प्रदान करे।

हिन्दुस्तानी की मर्यादा क्या है ?

(माननीय घनश्यामसिंह गुप्त)

हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू का विवाद जनता का ध्यान अब स्वभावतः अधिक आकर्षित कर रहा है। पूर्व-संचित भावनाओं के कारण और मारों के पीछे चलने के कारण, इस विवाद में विचार का कुछ अभाव दीखता है। इस विषय पर भावों को छोड़कर युक्ति से ही विचार किया जाय तो अच्छा हां। विवाद, भाषा और लिपि दोनों के सम्बन्ध में है। इस छोटे से लेख में भाषा के सम्बन्ध में ही विचार किया जायगा। सम्भव है कि इससे लिपि के विषय में विचार करना आवश्यक हो जाय।

हिन्दुस्तानी की परिभाषा में इस प्रकार करूँगा:—वह भाषा जिसमें हिन्दी और उर्दू का भेद नहीं रह जाता, जिसमें दोनों शुद्ध-मिश्र कर एक हो जाती हैं। यद्यपि भिन्न-भिन्न स्थानों में इसकी शब्दावली में भेद रहता है। पंजाब और दिल्ली की हिन्दुस्तानी में मध्यप्रदेश की अपेक्षा अधिक उर्दू शब्द होंगे। पृथ्वीसगढ़ में तो उर्दू शब्दों का छीटा रहेगा। यह हिन्दुस्तानी उन-उन स्थानों की बोल-चाल की भाषा है। ब्रिटिश-राज्य-सत्ता के कारण, उच्च शिक्षा, कानून अदायत आदि की भाषा अँगरेजी रही है। यहाँ तक कि कमिश्नर के मस्जिद भी प्रायः अँगरेजी में ही हुआ करते थे। अब:

अर्थ को जानने के लिए उसे घोंसना, फसल करना न पड़े, किन्तु स्वयं शब्द ही बता दे कि उसका अमुक अर्थ है। यथा पाठशाळा स्कूल अपने अर्थ को नहीं बताता। सुसंस्कृत सार्वक शब्द भाषी विद्यार्थी के मानसिक और बौद्धिक उन्नति में साधक होगा और प्रत्येक असंस्कृत अनर्थक शब्द उसको भार रूप होगा, चाहे वह आज हमारे लिए कितना भी परिचित और सहज क्यों न हो।

यह छोटा-सा जेल लम्बा न हो इस गरज से मैंने केवल मुद्दे की बातें ही लिखी हैं और उन सबके उदाहरण नहीं दिये हैं। काबेज की पदाई के लिए वैज्ञानिक शब्दावली बनाने का कार्य देखने का मुझे मौका मिला और अपनी विधान-सभा (असेम्बली) के लिए शब्दावली बनाने का कार्य मुझे स्वयं करना पड़ा। इससे मैं निम्न परिणाम पर पहुँचा हूँ।

(1) हिन्दुस्तानी, हिन्दी और उर्दू का मिश्रण और यदि रासायनिक शब्द के प्रयोग के लिए समा मिले तो कहेगा, हिन्दी-उर्दू का बोल, साधारण जनता की बोल-बाल की भाषा है और रह सकती है। इसका शब्द-भण्डार सीमित है। मेरे अम्दाज से दो हजार शब्दों से भी कम है। यह उच्च शिक्षा, कानून और प्रबन्ध की भाषा नहीं हो सकती, जिसके लिए छात्रों का शब्द-भण्डार आवश्यक है। इस बढ़ती आवश्यकता को पूरा करने के लिए हिन्दुस्तानी को बढ़ाने की धारणा उसे ही प्रथम कर देगी, जिस प्रकार कि बच्चों के कुम्बों को मर्यादा से अधिक बढ़ाने के यत्न में वह फूट जाता है। एक ही सूत्री विपरीत कारण हिन्दुस्तानी का राग गाया जाता है, अर्थात् उसकी सरलता साधारण जनता की समझ में आना वह समझ हो जायगी। दो हजार से छात्रों का शब्द-भण्डार बनना और यह फिर हिन्दुस्तानी, हिन्दी-उर्दू का मिश्रण दीखती रहे, इसके लिए यह आवश्यक होगा कि अल्पव्ययित रीति से एक शब्द हम संस्कृत से लें और दूसरा अरबी या फारसी से (बीगल के लिए 'बीव' तो काबेज के लिए "मुसलिकरुख

अंगरेजी के अपने विस्तृत क्षेत्रों से बचे-बुचे क्षेत्रों में ही हिन्दुस्तानी काम होता था। यथा-माध्याह्न बोल-चाल, व्याख्यान और साधारण पुस्तकें। इन सब कामों के लिए हिन्दुस्तानी पर्याप्त होती थी। उससे ये सब काम भली प्रकार से निकल जाते थे। विशिष्ट शब्दावली के प्रयोग की आवश्यकता न होने से हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू के वास्तविक विवाद का कोई प्रसंग ही न था।

हमारा राजनैतिक स्वतंत्रता के बाद यह स्वामाविक इच्छा होने लगी कि अंगरेजी भाषा के साम्राज्य का भी अन्त किया जाय, और उमका स्थान अपनी भाषा को मिले। इसका अनिर्वाह परिणाम यह होता है कि जहाँ अब हमारी भाषा बोल-चाल की थी और त्रिगकी शब्दावली में अन्तर्धान में दो हजार शब्दों में अधिक नहीं थी, वहाँ अब उमें उच्च शिक्षा, विज्ञान, कानून और विधान आदि की भाषा भी होना है, त्रिगके लिए लाखों शब्दों का शब्दावली अनिर्वाह है; त्रिगमें मूल्य विधाओं में भेद दिखाने वान शब्दों का आवश्यकता है। यथा—देशर और इन्डेशन में, क्लॉगइड, क्लोराइड और क्लोरिट में; वेनेज्डी, पनिसमेंट और मन्डम और हजारों ऐसे दूसरे शब्दों में।

इसे यह भी समझ लेना है कि हमारा प्रयत्न आज के लिए नहीं, बल्कि भारी समझना के लिए है और हम यह करना है जो उनकी उम्मीद में साधक हो, चाहे वह आज हमारे लिए सुविधाजनक न हो और चाहे उममें हमारा भावनाओं पर कुछ आघात भी पहुँचना हो। यह भी देखना है कि हमारा शब्दावली ऐसा हो, जो भाषण अविगाप की अन्य भाषाओं की भी समान रूप से प्रायः हो सके यथा मराठी, बंगला, नेत्रगू आदि का कि सब-की सब या तो संस्कृत में पैदा हुई है या संस्कृत-प्रभु है। हमें यह भी देखना होगा कि हमारे उच्च मूल्य जैसे ही त्रिगम लक्ष्य और ध्युन्मन शब्द मरचना में बन है। कई स्थानों में तो इनका अन्त परिहार होता है। हमें यह भी है कि हमारे शब्द अपने अपने स्वयं योग्य हों। किसी शब्द के

अर्थ को जानने के लिए उसे घोखना, कण्ठ करना न पड़े, किन्तु स्वयं शब्द ही बता दे कि उसका अर्थ क्या है। यथा पाठशाला स्कूल अपने अर्थ को नहीं बताता। सुसंस्कृत सार्थक शब्द भावी विद्यार्थी के मानसिक और बौद्धिक उन्नति में साधक होगा और प्रत्येक असंस्कृत अनर्थक शब्द उसकी भार रूप होगा, चाहे वह आज हमारे लिए किन्तना भी परिचित और सहज क्यों न हो।

यह छोटा-सा लेख जम्मा न हो इस गरज से मैंने केवल मुद्दे की बातें ही लिखी हैं और उन सबके उदाहरण नहीं दिये हैं। कावेज की पढ़ाई के लिए वैज्ञानिक शब्दावली बनाने का कार्य देखने का मुझे मर्का मिला और अपनी विधान-सभा (असेम्बली) के लिए शब्दावली बनाने का कार्य मुझे स्वयं करना पड़ा। इससे मैं निम्न परिणाम पर पहुँचा हूँ।

(१) हिन्दुस्तानी, हिन्दी और उर्दू का मिश्रण और यदि रासायनिक शब्द के प्रयोग के लिए जमा मिले तो फहूँगा, हिन्दी-उर्दू का शब्द, साधारण जनता की बोझ-घाज की भाषा है और रह सकती है। इसका शब्द-भण्डार सीमित है। मेरे अन्दाज से दो हजार शब्दों से भी कम है। यह उच्च शिक्षा, कानून और प्रबन्ध की भाषा नहीं हो सकती, जिसके लिए ज्ञातों का शब्द-भण्डार आवश्यक है। इस महती आवश्यकता को पूरा करने के लिए हिन्दुस्तानी को बढ़ाने की धारणा उसे ही शरम कर देगी, जिस प्रकार कि बच्चों के कुम्बों को मर्यादा से अधिक बढ़ाने के यत्न में वह फूट जाता है। एक ही लक्ष्य जिसके कारण हिन्दुस्तानी का शान गाया जाता है, अर्थात् उसकी सरलता साधारण जनता की समझ में आना वह समाप्त हो जायगी। दो हजार से ज्ञातों का शब्द-भण्डार बनना और वह फिर हिन्दुस्तानी, हिन्दी-उर्दू का मिश्रण दीसती रहे, इसके लिए यह आवश्यक होगा कि अभ्यवस्थित रीति से एक शब्द हम संस्कृत से लें और दूसरा अरबी या फारसी से (श्रीगज के लिए 'वैद्य' तो ज्ञानेश के लिए "मुञ्जलिक्कज

एनात' करेंगे।) वह शब्द भावी-पन्थान के लिपि सर्वथा नये, धँक और कठिन होंगे, और भरबी से बने हुए होने के कारण हम भाषाओं से, जिनकी जननी संस्कृत है, समम्बद्ध होंगे। हमारे भाषाविदों के लिपि मार-रूप होकर उनकी बुद्धिही धीरे-धीरे प्रत्यक्ष से, परन्तु निरवयव-पूर्वक दोषी बनाने का कार्य करते रहेंगे।

(२) हिन्दुस्तानी की उपरोक्त मर्यादा को यदि हम ध्यान में रखें तो वह हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा भी बन सकती है, किन्तु साधारण जनता के लिए बोझ-घाब के लिपि।

(३) उच्च-शिक्षा, कानून और प्रबन्ध आदि की भाषा या तो

(अ) हिन्दी: प्रायः संस्कृत-जन्य या (ब) उर्दू प्रायः भरबी-फारसी-जन्य या अंगरेजी हो सकती है। इसके विवाय दूसरा कोई धारा नहीं, और जब हमें इन तीनों में से एक चुनना है तो हममें कोई सन्देह नहीं रहना कि वह हिन्दी ही होगी।

कहाँ क्या ?

१. डाक्टर राजेन्द्रमसाद	१७
२. राजर्षि दुर्योधनदास श्यमन	२०
३. श्री सम्पूर्णानन्द	२०
४. डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्न्या	२४
५. श्री कर्देवाजाज मायिकुजाज सुन्धी	३८
६. सम्पादकोचार्य अम्बिकाप्रसाद शारपेयी	४३
७. महाप्रपिठक राहुज साहृयवाचन	४६
८. डाक्टर अमरनाथ झा	६०
९. श्री बाबुराव विष्णु परादकर	६४
१०. डाक्टर भगवानदास	७४
११. सेठ गोविन्ददास	८४
१२. श्री विद्योती, हरि	९२
१३. श्री महेश आनन्द बीरक्यादव	१०४
१४. डाक्टर श्रीरेन्द्र वर्मा	११०
१५. श्री बाबूहृष्य वर्मा 'बबीन'	१२३
१६. प्रो० गुडाबराय	१३०
१७. डाक्टर मैथिलीकरब शूभ	१३६

